कबीरदास



राजेश प्रकाशन
कृष्णनगर दिल्ली-५१

कबीरदास

दर्शन, भक्ति और काव्य

डॉ० मदनलाल शर्मा
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत) डी० लिट्
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल कॉलिज
(दिल्ली विश्वविद्यालय) दिल्ली-110007

मूल्य : 60.00
समालोचना : कबीरदास

प्रथम संस्करण : 1990
प्रकाशक : राजेश प्रकाशन
ए-7/46 कृष्णनगर, दिल्ली-110051
मुद्रक : एम० एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

KABIRDAS (Critisizm) Dr. Madanlal Sharma

अनुक्रम

भूमिका

कबीरदास सन्त, भक्त, योगी और समाज सुधारक थे। वे कवि रूप मे समाज मे विख्यात नही होना चाहते थे, परन्तु उनमे उत्कृष्ट कोटि की काव्य प्रतिभा भी विद्यमान थी। इसीलिए वे अपने भावों, विचारों तथा उपदेशो को काव्य के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल हो सके और उनका कथन एक अमर काव्य के रूप मे शाश्वत सत्य की भाँति देशकाल की सीमाओं का बन्धन तोड़कर सर्वथा सर्वभावेन भजनीय, पठनीय और महनीय बन गया। इसीलिए कबीरदास की गणना हिन्दी के उन मूर्द्धन्य कवियों में की जाती है, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

वास्तव मे ही कबीर का काव्य भूत, भविष्यत् और वर्तमान में पूर्ण उपादेय तथा प्रासंगिक है। कबीरदास के सम्बन्ध मे कहा जाता है—

"मसि कागद छुआ नहिं, कलम गही नहिं हाथ।"

परन्तु उनका काव्य रस, भाव, विचार, अर्थ गाम्भीर्य लोक-भाषा और शैली सभी दृष्टियों से इतना महान् है कि उसकी समता मे सूर, तुलसी आदि मूर्द्धन्य कवि, महात्मा और लोकनायक ही ठहर सकते हैं।

कबीर के काव्य मे आद्योपान्त शान्त रसात्मक तथ्य ही उपलब्ध होते हैं। नीति, शिक्षा, उपदेश, प्रेरणा समाजोत्थान, अछूतोद्धार तथा धर्म और मोक्ष की साधना प्रक्रिया, दर्शन-सम्बन्धी तत्वों का व्यवहारिक रूप आदि कितने ही जीवनोपयोगी तत्व कबीर के काव्य में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। अतः कबीर-साहित्य को काव्यात्मक दृष्टि से दर्शन, भक्ति और काव्यमूलक कोटियो में रखा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्ही तत्वों को ध्यान में रखकर कबीर-साहित्य का समालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह समस्त विवेचन विभिन्न विश्वविद्यालयों मे निर्धारित कबीर-काव्य की उपयोगिता को ध्यान मे रखकर किया गया है। अतः यह पुस्तक उन सभी छात्रों और अध्यापको की कबीर-साहित्य सम्बन्धी उन कठिनइयो को ध्यान मे रखकर निर्मित की गई है, जो विश्वविद्यालय स्तर पर कबीरदास के काव्य का पठन-पाठन करते है। इस पुस्तक में विषयात्मक रूप से कबीर-दर्शन, भक्ति, तथा समाजोद्धारक रूप का सम्यक्, गहन, वैज्ञानिक तथा समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत

किया गया है और काव्यात्मक समीक्षा की दृष्टि से रस, भाव, भाषा, उपमान विधान और शैली-शिल्प का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रस्तुत पुस्तक कबीर-साहित्य की उच्चस्तरीय समीक्षा शृंखला की एक अभिन्न कड़ी के रूप में उपादेय सिद्ध होगी और विश्वविद्यालयीय स्तर पर कबीर-साहित्य से सम्बद्ध समीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम् होगी।

इसी आशा और विश्वास के साथ हिन्दी-भक्ति-साहित्य, के प्रथम पुष्प के रूप में 'कबीरदास' नामक अपना लघु प्रयास विद्वत्वर्य के समक्ष प्रस्तुत है।

चूँकि प्रस्तुत पुस्तक 'हिन्दी भक्ति साहित्य' की प्रथम कड़ी के रूप में प्रकाशित हो रही है, अतः पीठिका रूप मे भक्ति साहित्य की सामान्य विशेषताओं से भी पाठकों को अवगत कराना आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रारम्भ मे भक्ति साहित्य का परिचय, परिस्थितियाँ और महत्ता आदि का भी दिग्दर्शन कराया गया है। मेरा विश्वास है कि इस विवेचन से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढेगी।

अन्त मे मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री इन्द्रेश राजपूत के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना नैतिक दायित्व मानता हूँ, जिनके साहस और सहयोग से यह कृति पाठकों के हाथों मे पहुँचने की क्षमता प्राप्त कर सकी है।

—मदनलाल शर्मा

हिन्दी विभाग
किरोड़ीमल कॉलिज, दिल्ली-7

प्रथम अध्याय

भक्ति काव्य का सामान्य परिचय

संत काव्य

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से 1700 विक्रमी तक माना जाता है। इस युग की सर्वप्रथम काव्यधारा को निर्गुण या ज्ञानमार्गीय सन्त काव्य-धारा कहा जाता है। इस युग के सभी कवि सन्त कहलाते थे। 'सन्त' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्‌रूपी परमत्व का अनुभव कर लिया हो और जो अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत् स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो, अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य मे प्रतिष्ठित हो गया हो, वही सन्त है। हिन्दी सन्त कवियों में रामानन्द, कबीर, रैदास, नानकदेव, लालदास, दादूदयाल, मलूकदास तथा सुन्दरदास आदि प्रमुख व प्रसिद्ध हैं। संक्षेप मे इनका परिचय यहाँ दिया जाता है—

रामानन्द—इनका जन्म प्रयाग मे कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका समय 1368 ई० से 1468 ई० तक माना जाता है। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। ये रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा मे चतुर्थ शिष्य थे।

रामानन्द बड़े उदार थे। उन्होने सामाजिकहीनता और असमर्थता की भावना को समूल नष्ट कर साधना का ऐसा भव्य एव विशाल मार्ग निर्मित किया, जिसके द्वार सबके लिए खुले थे। उन्होंने जाति-पाँति की भावना को समूल नष्ट करने में पर्याप्त सहायता दी। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, वेदादि धर्मग्रन्थों एवं उपासना के बाह्य साधनो की आलोचना करते हुए अन्तस्साधना का मार्ग प्रदर्शित किया। उन्होने ईश्वर की प्रेमा भक्ति पर बल दिया। इनके काव्य की भाषा साफ-सुथरी व सरल है। सन्त मत के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय इन्ही को जाता है। रामानन्द से ही प्रेरणा ग्रहण कर कबीर ने साधना एवं भक्ति को सभी वर्णों तथा सभी वर्गों के लिए सहज सुलभ बना दिया था।

कबीरदास—कबीरदास स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इनका समय 1398 ई०-से 1518 ई० तक माना जाता है। ये जाति से जुलाहा थे। 'जाति जुलाहा नाम कबीरा' जैसी पंक्तियों से यह बात स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है।

कबीरदास एक महान् समाज सुधारक व युगद्रष्टा थे। इन्होने समाज मे व्याप्त जाति-भेद, बाह्याडम्बर, संकीर्णता, ढोंग आदि का खुलकर विरोध किया और भाई-चारे की भावना को प्रतिष्ठित किया। उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियों मे !हम

बड़े' की भावना घर कर गई थी। कबीर ने इन दोनों का पर्दाफाश किया और एक होकर रहने का उपदेश दिया।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुआई॥
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घर में करें सगाई॥

कबीर ने इनके बाह्याडम्बरों का भी खुलकर विरोध किया है। और दोनों को सहज रूप से रहने का उपदेश दिया है।

1. केसन कहा बिगारिया जो मूड़ै सौ बार।
   मन को काहे न मूड़ता जामें बड़ा विकार॥
2. दुनिया ऐसी बावरी पाथर पूजन जाय।
   घर की चक्की कोई न पूजैं जाका पीसा खाय॥
3. कंकर पत्थर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
   ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय॥
4. बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
   जे नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

कबीर, मूल तत्त्व को पहचान चुके थे। उन्होंने अध्यात्म साधना में लीन हो परम-तत्त्व की पहचान कर ली थी। उन्होंने सत्य को पहचान लिया था। यही कारण है कि कबीर ने ईश्वर, जीव, जगत्, माया तथा मोक्ष के सम्बन्ध में जो तर्क दिए हैं, वे अकाट्य हैं। उन्होंने सब कुछ स्वयं ही अनुभव किया था। उन्होंने कहा है—

'मैं कहता आँखिन की देखी।
तू कहता कागद की लेखी।'

उन्होंने एक ही 'निर्गुण राम' को भजने का उपदेश दिया है।

'निर्गुण राम' जपहुँ रे भाई।
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै, ता गति लखी न जाई।'

माया के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है :—

'मीठी मीठी माया तजी न जाई। अज्ञानी पुरुष को धोलि-धोलि खाई॥

कबीर ने जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन किया है, ज्ञान-भक्ति, वैराग्य, योग, हठ-योग आदि नीरस एवं जटिल विषयों का विवेचन किया है, वहाँ दूसरी ओर भावात्मक स्थलों पर उनके काव्य में रसात्मकता का पूर्ण परिपाक मिलता है। भावात्मक रहस्यवाद से सम्बन्धित उक्तियों में निहित मार्मिकता, सजीवता, रोचकता उनके काव्य को सरस व भावनीय बनाने में पूर्ण समर्थ हैं। कबीर कोरे बुद्धिवादी नहीं थे, वे हृदयवादी भी थे।

कबीर का अभिव्यंजना पक्ष सशक्त है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने—उन्हें वाणी का डिक्टेटर कहा है। भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। उन्होंने जैसे चाहा भाषा को बना लिया। उनकी भाषा भाव व्यंजना में पूर्ण सक्षम सिद्ध हुई है। अलंकार व छन्दों

का प्रयोग भी उपयुक्त है। इस प्रकार कबीर एक प्रतिभाशाली एवं मौलिक कवि थे। उनका व्यक्तित्व प्रखर व तेजस्वी था। वे सच्चे सन्त, दार्शनिक और लोकनायक थे।

रैदास—रैदास का जन्म काशी में हुआ था। वे जाति के चमार थे। 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार,' 'चरन सरन रैदास चमइया' आदि से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। रैदास के गुरु भी कबीर की ही भाँति रामानन्द थे। यद्यपि उनकी रचनाओ मे कही भी रामानन्द का उल्लेख नही हुआ है।

रैदास मूलत: सन्त थे। कबीर की ही भाँति रैदास ने भी मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध करके अन्त: साधना पर बल दिया। अपने भावो व विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होने सरल, व्यावहारिक ब्रजभाषा को अपनाया जिसमे अवधी, राजस्थानी खड़ी बोली और उर्दू-फारसी के शब्दों का भी मिश्रण है। उपमा तथा रूपक उनके प्रिय अलकार है।

नानक—इनका समय 1468 ई० से 1538 ई० तक बताया जाता है। इन्होने नानक-पन्थ का प्रवर्तन किया है। इनका जन्म लाहौर के निकट राइभाई की तलवण्डी ग्राम में हुआ था। बाल्यावस्था से ही नानक प्रखर बुद्धि के थे। संस्कृत, फारसी, पजाबी, एवं हिन्दी की शिक्षा उन्हें बचपन में ही मिली। वे आरम्भ से ही आत्मचिन्तन, ईश्वर-भक्ति और सन्तसेवा की ओर उन्मुख रहे। वे परम उदार हृदय थे। धार्मिक रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों का उन्होने निरन्तर विरोध किया। सत्य के प्रति आस्था के फलस्वरूप उनकी वाणी मे स्पष्टता और उद्बोधन की प्रखरता मिलती है। उनके काव्य मे निर्गुण ब्रह्म के प्रति उच्च कोटि की भक्ति भावना का प्रदर्शन हुआहै। उनके काव्य का मुख्य रस शान्त है। उनकी भाषा सहज, सरल और प्रवाहमयी है। अलंकारो का नानक के काव्य में सहज प्रयोग मिलता है। उनके पद राग रागनियो में विरचित हैं।

दादूदयाल—दादू का जन्म अहमदाबाद मे हुआ। डॉ रामकुमार वर्मा के अनुसार उनका जन्म काल 1601 ई० है। दादू का जन्म धुनिया परिवार में हुआ था। वे मुसलमान थे। दादू-पन्थ के प्रवर्तक सन्त दादूदयाल धर्म-सुधारक, समाज सुधारक और रहस्यवादी कवि थे। निर्गुण भक्त कवि होने पर भी उन्होने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता प्रदान की। भक्ति को उन्होंने ज्ञान के साथ सहज स्वीकार किया। दादू प्रतिभाशाली कवि थे। उनकी काव्य भाषा व्रज है। उनकी भाषा मे सरलता और बोधगम्यता का गुण सहज विद्यमान है।

मलूकदास—मलूकदास (1574-1682 ई०) का जन्म उस समय हुआ जब भारत पर अकबर के साम्राज्य का दीपक हिन्दुओं के स्निग्ध स्नेह मे जगमगा रहा था। मलूकदास सन्त, विरक्त व योगी थे। उन्होंने भी निर्गुण निराकार की उपासना की है किन्तु सगुण ब्रह्म की आराधना को भी उन्होंने स्वीकार किया। मलूकदास का काव्य अवधी और ब्रज मे रचा गया। ये बड़े लोक प्रिय थे। इनका यह दोहा आज भी समाज में सर्वत्र व्यवहृत है।

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाता राम ॥

सुन्दरदास – सुन्दरदास (1596-1689 ई०) बड़े ही प्रतिभाशाली सम्पन्न कवि व साधक थे। वे दादू के शिष्य थे। उनकी रचनाओं मे भक्ति, योग-साधना और नीति को प्रधान स्थान मिला है। शृंगार रस की रचनाओं के वे कट्टर विरोधी थे। सन्त सुन्दरदास ने परिष्कृत ब्रजभाषा मे अपने काव्य का निर्माण किया है। अलंकारों का सुनियोजन और छन्दो का शुद्ध व विविधतापूर्ण प्रयोग उनकी विशेषताएं हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त सन्त काव्यधारा मे अन्य अनेक प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली कवि हुए हैं इनमें जम्भुनाथ, हरिदास निरंजनी, सींगा, लालदास, बाबा लाल, धर्मदास, रज्जब, बाबरी, मदना, बेनीप्रवीन, पीपा, धन्ना, अंगद, शेख फरीद और निरंजन स्वामी आदि उल्लेखनीय है। यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये सभी कवि आचार से सन्त, व्यवहार से लोकसेवी, विचार से दार्शनिक, हृदय से दयालु, भाव से भक्त और प्रतिभा से कवि थे। इन्होने जो कुछ लिखा वह परान्तः सुखाय, बहुजन हिताय, वसुधैव कुटुम्बकम् और आत्मवत् सर्वभूतेषु की दिव्य भावना से ओत-प्रोत है। ये सभी त्यागी, तपस्वी, वैरागी और संयमी थे। अतः इनके मुख से निकली हुई कविता गंगा की धारा के समान पवित्र और लोककल्याणमयी है। इन सन्त कवियों की वाणी वास्तव में ही ज्ञान, सदाचार साम्प्रदायिक सद्भाव, मानवीय सौहार्द और सत्यं-शिवं सुन्दरम् की विधायिका है। इनका समस्त काव्य धर्म और मोक्ष के महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रचा गया है।

कृष्ण काव्य

श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति को प्रतिष्ठित किया। वल्लभाचार्य का दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत है। साधना और व्यवहार के क्षेत्र मे उन्होने 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' को अपनाया। पुष्टि का अर्थ है 'अनुग्रह' या 'कृपा'। 'कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः।' पुष्टि चार प्रकार की मानी जाती है—प्रवाह, पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, शुद्ध पुष्टि और पुष्टि-पुष्टि। श्री वल्लभाचार्य ने अपनी भक्ति का आलम्बन श्री कृष्ण को माना है। इसमें लीला तत्व की प्रधानता मानी है। भगवान् पृथ्वी पर सगुण रूप मे अवतरित होकर अपनी विविध लीलाओं के द्वारा भक्त जनों के हृदय को रसमग्न करते हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य मे इन्ही विशेषताओं को अपनाया गया है। उसमे श्री कृष्ण के सगुण रूप को स्वीकार कर उनकी विविध लीलाओ का बड़ा मार्मिक व सरस वर्णन किया है। कृष्ण-भक्ति-काव्य परम्परा में सूरदास, नाभादास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, हरिदास, भगवानदास, मीराबाई, सहजोबाई आदि का विशेष स्थान है। नीचे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

सूरदास—हिन्दी-साहित्य के कृष्ण-भक्त कवियों मे सूरदास का प्रथम स्थान है। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन्हें 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा है।

"पुष्टिमार्ग को जहाज जात है सो जाको कछु लेना होय सो लेउ।"

सूरदास का समय 1478 ई० से 1583 ई० तक माना गया है। सूरदास

जन्मान्ध थे। सूरदास द्वारा विरचित सूरसागर, साहित्यलहरी और सूरसारावली उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ है।

सूर काव्य का मुख्य विषय कृष्ण-भक्ति है। उन्होने राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओ का वर्णन अपने काव्य मे किया है, जो पुष्टिमार्गीय भक्ति का मुख्य अग हैं। बाल-लीला, गोकुल-लीला, चीरहरण, माखन चोरी, रास लीला आदि अनेक लीलाओं का वर्णन सूर ने अपने काव्य में किया है।

दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण भी सूर ने वल्लभाचार्य के 'शुद्धाद्वैतवाद' के आधार पर किया है। ईश्वर, माया, काल, जीव और सृष्टि रचना का विशद वर्णन करके उन्होंने अपने भक्ति सिद्धान्तों को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया है कि उसमें एक ओर जहां गहन दार्शनिकता आ गयी है वहां दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नही है।

सूर की भक्ति में शान्त, माधुर्य, वात्सल्य, सख्य, दैन्य आदि सभी भक्ति रूपो का विकास हुआ है। माधुर्य भक्ति, प्रेमा भक्ति या रागानुगा भक्ति सूर की मुख्य भक्ति है। माधुर्य भक्ति मे भक्त और भगवान् के बीच पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अतः वे अपने को गोपियों और राधा के रूप में मानकर कृष्ण की माधुर्य भाव से भक्ति करते हैं। इसमे अनन्यता का प्राधान्य है। गोपियां कृष्ण के प्रति इतनी आसक्त हैं कि कष्ट उठाते हुए भी उद्धव द्वारा निर्गुण ईश्वर की उपासना को ठुकरा देती हैं और कहती हैं—

ब्याहौ लाख धरौ दस कुबरी अंतहु कान्ह हमारे।

पुष्टिमार्गीय भक्ति के अन्तर्गत 'भ्रमरगीत-प्रसंग' आया है, जो कि सूर की मौलिकता का परिचायक है। इसमे गोपियां निर्गुण के स्थान पर सगुण और ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रतिष्ठा करती है।

सूरदास के भ्रमरगीत में केवल दार्शनिकता और आध्यात्मिक मार्ग का ही उल्लेख नही है, वरन् उसमें भावात्मकता और रसात्मकता का भी बड़ा अनूठा व मार्मिक चित्रण हुआ है।

सूर के काव्य की भाषा व्रज है, जो सरस, रोचक, मार्मिक, गुणात्मक, व्यंग्यात्मक और लोकोक्ति मुहावरो से युक्त है। सूर ने व्रज भाषा को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप प्रदान किया। सूर की व्रजभाषा में चित्रात्मकता, आलंकारिकता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिम्बात्मकता पूर्णरूप से विद्यमान है। अलंकारो में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीप व्यतिरेक, विभावना आदि का सहज रूप मे प्रयोग हुआ है। गीति-शैली का प्रयोग करके सूर ने अनेक राग-रागनियों का बड़ा सुन्दर संयोजन किया है।

कुम्भनदास—कुम्भनदास (1468-1583) का जन्म गोरवा क्षत्रिय कुल मे हुआ था। गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण-भजन में लीन रहने वाले साधु-वृत्ति के पुरुष थे। उन्होने 1492 ई० मे महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। वे वल्लभाचार्य के अष्टछाप के शिष्यो मे प्रथम शिष्य थे। कुम्भनदास की पद-रचना में

साहित्यिक सौष्ठव उतना नही है, जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है। उनके पदों में श्रीनाथ जी की साम्प्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। कुम्भनदास की काव्य भाषा साधारण ब्रजभाषा है।

परमानन्ददास—परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म 1493 ई० कन्नौज मे एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार मे हुआ। इन्होने प्रयाग मे वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की और तभी से बाललीला सम्बन्धी पद-रचना आरम्भ की।

इनके पदो में 'सूरसागर' की भाँति 'भागवत' की कथा का वर्णन नही है, अपितु इन्होने कृष्ण के मथुरा—गमन से भँवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य-पक्ष की लीलाओं का गान किया है। वियोग-शृंगार के वर्णन मे परमानन्ददास ने अद्भुत सफलता प्राप्त की। भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, कान्ति और छटा इनके पदो मे सर्वत्र व्याप्त है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता और प्राञ्जलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदो मे रचना करने के साथ-साथ दोहा-चौपाई-शैली का यत्र-तत्र प्रयोग लक्षित होता है।

नन्ददास—नन्ददास बहुमुखी प्रतिभा के भक्त कवि थे। नन्ददास का जन्म 1533 ई० मे उत्तर प्रदेश के सूकर क्षेत्र (सोरो) के रामपुर गाँव मे हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। नन्ददास पहले रामभक्त थे। गोकुल मे उनकी भेंट गोस्वामी विट्ठलनाथ से हुई। वही उन्होंने पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की और वे सच्चे कृष्ण भक्त हो गये। सुदामाचरित, भँवरगीत, मानमंजरी, रसमंजरी, रासपंचाध्यायी, नन्ददास-पदावली, गोवर्धनलीला आदि उनके श्रेष्ठ ग्रंथ हैं। 'भँवरगीत' नन्ददास के परिपक्व 'दर्शन-ज्ञान, विवेक बुद्धि, तार्किक शैली और कृष्ण भक्ति का परिचायक काव्य है। इसके पूर्वार्द्ध मे गोपी-उद्धव-संवाद है और उत्तरार्ध में कृष्ण-प्रेम मे गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है। इस रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना का खण्डन करते हुए सगुण साकार कृष्ण की भक्ति की स्थापना करना है। यह रचना नन्ददास के पाण्डित्य का भी निदर्शन करती है।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रंथ परिमार्जित ब्रजभाषा मे है। इनका शब्द-चयन उपयुक्त व सुन्दर है। लोकोक्ति-मुहावरो पर भी कवि का पूर्णाधिकार था। संगीत-प्रवीण होने के कारण शब्दो के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य मे प्राञ्जलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस एवं मार्मिक प्रसंगो की उद्भावना मे जैसी ललित एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है वैसी अन्यत्र नही मिलती। अष्टछाप के कवियो मे नन्ददास का स्थान काव्य-सौष्ठव और भाषा की प्राञ्जलता की दृष्टि से सूरदास के पश्चात् है।

गोविन्दस्वामी—इनका जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के आँतरी गाँव में 1505 ई० में हुआ। 1535 ई० मे इन्होने विट्ठलनाथ से विधिवत दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नही किया। इन्होने राधा-कृष्ण के शृंगार-लीला विषयक पदो की रचना की है। कुछ पद बाललीला के भी हैं। भाषा ब्रज है, लेकिन उसमें

लालित्य और सौष्ठव नन्ददास और सूरदास की रचनाओं जैसा नहीं है।

छीतस्वामी—छीतस्वामी (1515-1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। छीतस्वामी का भी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं। कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद-रचना की वही, 'पदावली' नाम से प्रसिद्ध है। इनके पदों और कवित्तों मेंपर्याप्त लालित्य है।

चतुर्भुजदास—*ये कुम्भनदास के छोटे सुपुत्र थे जिनका समय 1530 ई० से* 1585 ई० है। इनकी रचना में शृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण जन्म से लेकर गोपी-विरह तक ब्रजलीला-गान इन्होंने किया है। साधारण ब्रज भाषा को इन्होंने अपनाया है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता।

अष्टछाप-कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों ने भी कृष्ण-काव्य की रचना की है। जिनमें हरिदास, भगवान दास आदि प्रसिद्ध हैं लेकिन कवयित्रियों में मीराबाई का विशिष्ट स्थान है।

मीराबाई—मीराबाई ने किसी सम्प्रदाय विशेष में न बँधकर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का स्वतन्त्र भाव से वर्णन किया है। मीराबाई बचपन से ही कृष्ण की मूर्ति के प्रति आसक्त थी, जो उनके वैधव्य के बाद पुनः प्रखर हो उठी और उन्होंने योगिनी का वेष धारण कर श्रीकृष्ण को ही अपने पति-रूप में स्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥"

मीराबाई का जन्म 1504 ई० में मेड़ता के समीपवर्ती गाँव कुड़की में राठौड़ वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। मीरा वैधव्य के पश्चात् राजमहल को त्यागकर वृन्दावन चली गईं। वहीं इन्होंने अनेक माधुर्य-भक्ति रस से ओत-प्रोत पदों की रचना की, जिनमें श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यता, सामाजिक जीवन के प्रति विरक्ति और भगवद् भक्तों की प्रशंसा आदि निहित है।

'मीराबाई की पदावली' ही उनका प्रचलित व प्रामाणिक ग्रंथ है। मीरा के काव्य में वियोग शृंगार और शांत रस की प्रधानता है। मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छ्वास का साकार रूप है। अपने आराध्य 'गिरिधर गोपाल' की विलक्षण रूप-छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति ही रस-धारा बनकर फूट पड़ी है। कृष्ण-प्रेम में मतवाली मीरा ने मन-ही-मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजोकर तज्जन्य आनन्द की अनेक प्रकार से व्यंजना की है। अतः उनका काव्य मार्मिक प्रसंगों से ओत-प्रोत है।

मीराबाई के काव्य की भाषा सामान्यत: राजस्थानी मिश्रित ब्रज है। संगीत एवं छन्द विधान की दृष्टि से मीरा का काव्य उच्च कोटि का है। उनके पद विभिन्न राग-रागनियों में बद्ध हैं। भाव प्रधान होने के कारण उनके काव्य में अलंकारों की सायास योजना कहीं दिखायी नहीं देती। अनुभूति के सहज-मार्मिक प्रवाह में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्वतः उनकी वाणी में घुल-मिल गये हैं।

कृष्ण भक्ति काव्य धारा के यद्यपि अनेक कवि गिनाये गये हैं परन्तु सूरदास ही इन

सब में मूर्धन्य दिखाई देते हैं। सूरसागर कृष्ण-भक्ति काव्य का मेरुदण्ड है। इस महान् ग्रंथ मे सगुणोपासना और पुष्टिमार्गीय भक्ति का उच्चतम स्वरूप विद्यमान है। सूरदास ने विषय, पात्र और चरित्र, दर्शन और भक्ति सबको अपनी मधुरतम वाणी में पागकर ऐसा सरस बना दिया है कि उससे पाठकों के मन द्रवीभूत हो उठते हैं। व्रज भाषा की मधुरता की छाप सूरसागर से ही सिद्ध हो जाती है। सूरदास की सबसे बड़ी विशेषता उनके पदों की गेय शैली भी है। सूरदास के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी व्रजभाषा की माधुर्य धारा को आगे बढाने का कार्य किया है। यही कारण है कि कृष्णभक्ति काव्य पूर्णतया रसात्मक भावात्मक तथा प्रभावशाली है।

राम काव्य

भक्तिकाल मे रामकाव्य का भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। राम भक्ति की स्थापना रामानुजाचार्य ने की। उन्होंने शकर के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप विशिष्टाद्वैतवाद का प्रारम्भ किया। इनके मतानुसार ब्रह्म चेतन और अचेतन दोनो से ही भिन्न है (चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म:)। रामानुजाचार्य ने ब्रह्म के इसी रूप को निरूपित किया है, जो आगे चलकर रामभक्ति विषयक सगुणोपासना का आधार बना। रामभक्ति में ज्ञान और भक्ति का समन्वय, बहुदेववाद का समन्वय, सामाजिक मर्यादा की स्थापना, सदाचार की अनिवार्यता, उदात्त मानवीय भावो को ग्रहण करने और दूषित भावों को त्यागने की प्रेरणा, लोक-कल्याण, नीति, शिक्षा और उपदेश आदि का सम्यक् निरूपण मिलता है। यही कारण है कि इस युग के काव्य मे लोकमंगल की महती कामना सन्निहित है। काव्यात्म दृष्टि से भी यह काव्य उच्च कोटि का है। इस युग में अनेक ख्यातनामा कवि हुए हैं जिनका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

विष्णुदास—तुलसीदास से पूर्व के रामभक्त कवियों में विष्णुदास विशेष उल्लेख्य हैं। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों मे महाभारत कथा, रुक्मिणी मंगल, स्वर्गारोहण, स्वर्गारोहण-पर्व और स्नेहलीला मुख्य हैं। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी रूपान्तर भी किया है।

अग्रदास—स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा मे अग्रदास का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने कृष्णदास पयहारी से दीक्षा ग्रहण की। ध्यानमंजरी, अष्टयाम, रामभजनमंजरी, उपासना-बावनी और पदावली इनके मुख्य ग्रंथ है। इनकी भाषा व्रजभाषा है। अग्रदास रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं।

ईश्वरदास—ईश्वरदास का जन्म 1480 ई० मे माना जाता है। सत्यवती कथा, भरत-मिलाप तथा अंगदपैज इनकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

तुलसीदास—तुलसीदास रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इन्होंने रामभक्ति को प्रसिद्धि के चरम बिन्दु पर पहुँचा दिया है। रामचरितमानस इनका विश्वविश्रुत ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य रूपों का बड़ा ही मार्मिक और आकर्षक वर्णन किया है। मानस के अतिरिक्त महात्मा तुलसीदास ने विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, बरवै-रामायण आदि अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन सभी

ग्रंथों में भक्ति, ज्ञान, सदाचार, लोकमर्यादा, लोककल्याण समन्वयवाद, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का सरल एवं सारगर्भित विवेचन मिलता है। इन सभी का संकेत हमें तुलसी के निम्नकथन में मिलता है—

चारिहु वेद पुराण अष्ट-दस,
छहो शास्त्र सब ग्रन्थन को रस।
सुर नर मुनि सन्तन को सरवस,
सार अंस सम्मति सबही की।
आरती श्री रामायन जी की।।

तुलसी का समस्त काव्य धर्म और मोक्ष की साधना के लिए लिखा गया है। इसे भी वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

कलिमल हरन विषय रस फीकी
सुभग सिंगार मुक्ति जुवती की
हरन रोग भव मूरि अमी की
तात मात सब विधि तुलसी की।
आरती श्री रामायण जी की।

महात्मा तुलसीदास के जन्म संवत् पर पर्याप्त विवाद रहा है। इनके जन्म की तिथियाँ प्रभृति आचार्यों ने भिन्न-भिन्न उद्धृत की हैं। रघुबर दासकृत 'तुलसी चरित' में इनका जन्म संवत् 1554 दिया हुआ है। बेनीमाधव जी ने इनके जन्म की तिथि 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' दी है। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् 1583 स्वीकार किया गया है। ग्रियर्सन ने इनका जन्म संवत् 1589 वि० माना है। जन्म के समय में विवाद होने के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका जन्म कब हुआ परन्तु मृत्यु के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा ही प्रामाणिक रूप से प्रसिद्ध है।

संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर।।

महात्मा तुलसीदास केवल कवि ही नहीं थे, वे एक महान् भक्त, संत, ज्ञानी और लोक-नायक थे। जनकल्याण की भावना से उनका हृदय ओतप्रोत था। करुणा, क्षमा और दया उनका महामंत्र था। उनका यह कथन बड़ा ही सटीक और मार्मिक है—

दया धरम को मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये जब लगि घट मे प्रान।।

महात्मा तुलसीदास का काव्य पूर्णतया रसात्मक है। वे एक महान् रससिद्ध कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में अवधी और व्रज भाषा का प्रयोग किया है। दोनो ही भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार था। काव्य-कला की दृष्टि से भी इनका काव्य उच्चकोटि का है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महात्मा तुलसीदास एक सच्चे महात्मा और महान् कवि थे। यद्यपि स्वान्तः सुखाय उनका नारा था परन्तु उन्होंने अपना समस्त जीवन परान्त: सुखाय मे लगा दिया था।

नाभादास—गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों मे नाभादास

का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म ई० 1570 के आसपास हुआ। नाभादास का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'भक्तमाल' है, जिसमें उन्होंने विविध भक्तों का परिचय दिया है। इनकी रचनाओं मे अष्टयाम तथा रामभक्ति विषयक पद मिलते हैं जिनके आधार पर उन्हे रामभक्त स्वीकार किया जाता है। इनकी भाषा परिमार्जित और प्राञ्जल है।

केशवदास—यद्यपि केशवदास को रीतिकाल के अन्तर्गत गिना जाता है परन्तु वास्तव मे ये तुलसी के समकालीन थे। इनका जन्म 1155 ई० तथा मृत्यु 1617 ई० मानी जाती है। 'रामचन्द्रिका' की रचना इन्होंने धर्म और मोक्ष के उद्देश्य से की थी। यह इनका एक महाकाव्य है। इसमें श्रीराम की यशचन्द्रिका का वर्णन किया गया है। अतः इसका अंगी रस वीर है। वीर के अतिरिक्त अन्य सभी रस भी रामचन्द्रिका में उपलब्ध होते हैं। तुलसी की ही भांति इन्होंने भी राम को ब्रह्म का अवतार माना है परन्तु उनके शक्ति रूप की ही अधिक अर्चना की है। रामचन्द्रिका की भाषा अलकृत ब्रज है। इन्होंने अपने इस ग्रथ में विविध छंदो के प्रयोग भी किए हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल में राम-भक्ति काव्य की धारा भी अजस्र रूप से प्रवाहित होती रही है। इस धारा के सर्वश्रेष्ठ और महान् कवि तुलसीदास ही माने जाते है। अकेला रामचरितमानस ही राम काव्य की गरिमा को अक्षुण्ण रखने मे समर्थ है। तुलसी के अन्य ग्रंथ भी जिनमे विनयपत्रिका ज्ञान, भक्ति और दर्शन का अन्यतम ग्रंथ माना जाता है। अग्रदास आदि को छोड़कर समस्त राम-भक्ति काव्य लोकमंगलकारी है जिसमें उदात्त मानवीय तत्त्व कूट-कूट कर भरे हुए है।

भक्तिकाल की प्रेरक परिस्थितियाँ

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है। इसे हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-काल भी कहा जाता है। साहित्य को समाज का दर्पण कहते है। अतः प्रत्येक युग का तत्कालीन साहित्य राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदि परिस्थितियों से अवश्य प्रेरित रहता है। हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काल भी इन परिस्थितियों से प्रेरित रहा है। इसका दिग्दर्शन निम्न प्रकार किया जाता है।

राजनैतिक परिस्थितियां

भक्तिकाल सं० 1375 से सं० 1700 तक अर्थात् सन् 1318 से 1643 ई० तक माना जाता है। इस समय भारतवर्ष में मुसलमानो का आधिपत्य रहा था। 1526 ई० से पूर्व भारतवर्ष में तुर्कों का साम्राज्य रहा और 1526 ई० के पश्चात् मुगलों ने शासन किया। मुसलमान शासक हिन्दू धर्म, समाज और सस्कृति के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने भारतवर्ष में पदार्पण करते ही 11वी शताब्दी से हिन्दूओं के मन्दिरो को ढहाना, मूर्तियो को तोड़ना, हिन्दू-धार्मिक ग्रथों को जलाना और बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की प्रक्रिया आरम्भ कर दी थी। प्रारम्भ मे तो हिन्दू राजा तथा सामन्त शक्ति के बल पर मुसलमानों के विध्वंस और अत्याचारों को रोकते रहे, परन्तु पृथ्वीराज के पतन के पश्चात् जब एक लम्बी अवधि तक निरन्तर समस्त भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य छाया रहा तो हिन्दू-राज सत्ता के क्षीण हो जाने के कारण राजाओं द्वारा भी विधर्मियों का विरोध मन्द पडने लगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि हिन्दू शासन और शासक एक प्रकार से विधर्मियो के चंगुल मे जा फँसे थे। केवल राजस्थान के कुछ राजपूत राजा अपने प्राणों की बाजी लगाकर ही मुसलमानों के आधिपत्य से बचे हुए थे।

किसी भी देश के शासन-सूत्र का उस देश की धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों पर प्रभाव पड़े बिना नही रहता। भारतवर्ष के लम्बी अवधि के विदेशी शासन सूत्र में हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को बड़ा आघात पहुँचा है। मुसलमान शासक मुल्ला और मौलवी, सैनिक तथा अधिकारी सभी भारतीय आचार-पद्धति के विरोधी थे क्योकि उनकी आचार-पद्धति की तुलना मे हमारी आचार पद्धति अधिक श्रेष्ठ और सनातन थी। इसीलिए परतन्त्र होते हुए भी हिन्दूओ ने बड़े-से-बड़े मुसलमान को अपने से ऊँचा नहीं माना। निम्न से निम्न हिन्दू भी मुसलमान के घर का अन्न-जल ग्रहण नही करता था। न ही इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता ही हिन्दू धर्म ने स्वीकार की। दूसरी ओर

मुल्लाओं और मौलवियों द्वारा शासकों के मन में यह शंका उत्पन्न कर दी थी कि जब तक हिन्दुओं को मुसलमान न बनाया जायेगा तब तक न तो इस्लामी राज्य की ही स्थापना भारतवर्ष में हो सकती है और न यहाँ मुस्लिम शासन ही स्थिर रह सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि शासक वर्ग का आक्रोश हिन्दू धर्म को समाप्त करने पर ही तुल गया। इसीलिए मुसलमान शासकों ने मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने, मूर्ति भंग करने, ब्राह्मणों के जनेऊ और कंठी तोड़ने, तिलक चाट जाने आदि जैसे पाशविक कार्य प्रारम्भ कर दिए। साथ ही हिन्दू-मंदिरों में जहाँ कहीं भी धार्मिक ग्रन्थ मिलते उन्हें वे जला देते थे वे हिन्दू कर्म-काण्डों, भजन-कीर्तन तथा ध्यान आदि में ठीक इस प्रकार विघ्न उपस्थित करते थे। जिस प्रकार कि प्राचीनकाल में राक्षस मुनियों के यज्ञों का विध्वंस करते थे। मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं पर एक धार्मिक कर भी लगाया था जिसे 'जजिया' कहते थे। साथ ही हिन्दुओं का घोड़ों पर सवारी करना, अच्छे वस्त्र पहनना, त्यौहारों और उत्सवों को मनाना आदि पर भी रोक लगा दी गई। मुसलमानों के इन अत्याचारों से हिन्दू जनता त्रस्त और पीड़ित हो उठी, क्योंकि मुसलमान शासक आग और तलवार के बल पर बराबर हिन्दू-धर्म और संस्कृति को नष्ट करने में लगे हुए थे और राजा लोग इन पापियों से हिन्दू धर्म और समाज की रक्षा नहीं कर पा रहे थे।

ऐसे विषम और भयपूर्ण राजनीतिक वातावरण में जहाँ हिन्दू जनता का शारीरिक बल क्षीण हो गया, वहाँ आत्म-बल जागृत हो उठा था। वे भली प्रकार समझ गये थे कि ऐसे संकटपूर्ण समय में शारीरिक शक्ति कारगर नहीं हो सकती। उन्होंने मूर्तियों के टूटने के जो दृश्य देखे उससे मूर्तियों के प्रति उनकी आस्था शिथिल पड़ गई, क्योंकि मुसलमानों के अत्याचारों के सामने मूर्ति के अन्दर बैठा हुआ भगवान् कहीं भी प्रकट होता दिखाई नहीं दिया। अतः मूर्तियों से हिन्दुओं का विश्वास हट गया और उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का सहारा लिया। ज्ञान और सदाचार का उपदेश दिया। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।...अपने पौरुष से हताश हिन्दू जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

जनसामान्य के लिए ज्ञान मार्ग भी अधिक लाभप्रद सिद्ध न हुआ। इधर मुगल शासक अकबर के समय में मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता बहुत कुछ कम हो गई थी। इस बीच मंदिरों और मूर्तियों का तोड़ना तथा हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार प्रायः समाप्त हो चुके थे। अकबर ने हिन्दुओं पर से 'जजिया' कर भी उठा लिया था। अतः हिन्दू जनता की सगुण उपासना की अवरुद्ध भावना पुनः जागृत हो उठी। राम तथा कृष्ण का संदेश लेकर रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि की शिष्य मंडली पुनः उद्भूत हुई

और भारतवर्ष में फिर एक बार सगुणोपासना का सूत्रपात हुआ। यह कार्य राजाओं द्वारा नही बल्कि धर्म के लिए प्राण न्यौछावर करने वाले संतो और भक्तों द्वारा सम्पन्न किया गया। मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता के कठोर पर्वत शिखर से भक्ति साहित्य के रूप मे एक ऐसी अजस्र धारा प्रवाहित हुई जिसने हिन्दुओ की निराश आत्मा को फिर से आशा का अमृत पिला दिया। इन्होने अपनी साधना और सिद्धातों को हिन्दी भाषा मे काव्य के रूप में समाहित करके धार्मिक आदोलन का संदेश हर हिन्दू के घर-घर मे पहुँचा दिया। इस युग के सभी भक्त कवि थे। उनमें उच्च कोटि की काव्य प्रतिभा थी। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि यदि मुसलमान शासको का इतना कड़ा विरोध नही होता तो हिन्दी का भक्ति-काव्य इस रूप में कभी प्रस्फुटित नही होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी शासकों की राजनीति धर्म का अविभाज्य अंग बनी रही और धर्मान्धता के नशे मे मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दू जनता को बुरी तरह सताया। ये शासक उन कट्टर मुल्लाओं को सन्तुष्ट कर अपने को इस्लाम का रक्षक सिद्ध करने के मोह मे धर्म-युद्ध करना चाहते थे। यही कारण है कि वे यहाँ धर्म-परिवर्तन कराने के लिए सभी प्रकार के तरीके अपनाने को तैयार हो गये थे।

मुसलमानो मे बाबर भी अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति अपने समय के किसी भी कट्टर सुन्नी मुसलमान से अधिक उदार नही था। हाँ हुमायूँ तथा उसके बाद के भी शाहजहाँ तक के शासकों में मुसलमानो की धार्मिक असहिष्णुता बहुत कुछ कम हो गई थी।

धार्मिक परिस्थितियाँ

भक्तिकाल की धार्मिक परिस्थितियों को दो भागो में विभाजित किया जा सकता है। पहला बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थितियाँ और दूसरा वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थितियाँ।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् बौद्धधर्म, 'हीनयान' और 'महायान' दो शाखाओं मे विभक्त हो गया था। 'महायान' अपनी व्यवहार पक्ष की प्रधानता तथा धार्मिक उदारता के कारण अधिक प्रचलित हुआ। आगे चलकर इसी से वज्रयान की शाखा निकली जिससे 'सिद्ध पन्थ' का प्रादुर्भाव हुआ तथा वज्रयान की शाखा सहज साधना या सहजयान, 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप मे पल्लवित हुई।

'सिद्ध पुरुष' आगे चलकर माँस, मदिरा आदि का सेवन करके अघोरी साधना मे रत होते दिखाई दिए, इससे जनसामान्य को इस मत से घृणा होने लगी और यह मत भैरव, भूत-प्रेतादि की उपासना तक ही सीमित रहकर कुछ काल पर्यन्त समाप्त-सा ही हो गया। 'नाथ पंथ' विशुद्ध योग-साधना और ज्ञान मूलक था। इसमे त्याग, वैराग्य, संयम, इन्द्रियनिग्रह, प्राणायाम, ध्यान-धारणा, तथा समाधि आदि यौगिक क्रियाओ का पालन किया जाता था। इस मत के प्रसिद्ध ज्ञानी गोरखनाथ ने 'गोरखवानी' आदि लिख अपना सिद्धान्त जनता तक पहुँचाया।

"अंजन माँहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेंट्या तेलं ।
मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरन्तर मेलं ।।"

यही ज्ञानमार्ग की धारा आगे चलकर कबीर आदि ज्ञानमार्गीय सन्तों की वाणी में प्रस्फुटित होकर जनता के समक्ष आयी। इसी को लक्ष्य करके कदाचित् तुलसी ने कहा था—

'गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो लोग।'

अस्तु, सिद्धों और नाथों की मुख्य-मुख्य रूढ़ियाँ सन्त मत की धार्मिक पृष्ठभूमि बनी। सन्त मत के पनपने का थोड़ा बहुत श्रेय इन सिद्धों और नाथों को जाता है। ज्ञानमार्गीय सम्प्रदाय के अधिकतर अनुयायी निम्नवर्गीय थे। अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असन्तोष स्वाभाविक था। इस सम्प्रदाय के रमते योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा-पिंगला नाड़ियों की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। कबीर का एक उदाहरण देखिए—

'झीनी झीनी बीनी चदरिया ।
काहे का ताना, काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया ।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया ।।
आठ कमल दल चरखा डोले, पंच तत्व गुन तीनी चदरिया ।
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक कै बीनी चदरिया ।।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ के मैली कीन्ही चदरिया ।
दास कबीर जतन ते ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया ।।

वे लोगों को ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेदशास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं, ईश्वर तो प्रत्येक के घट के भीतर है, अंतर्मुखी साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है, हिन्दू-मुसलमान दोनों एक हैं, दोनों के लिए शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति-पाँति के भेद व्यर्थ खड़े किए गए हैं, इत्यादि। यह प्रभाव कबीर के काव्य में स्पष्टतया द्रष्टव्य है—

"मन में आसन मन में रहणा। मन का जप तप मनसूं कहणा।
मन में खप्पर मन में सींगी। अनहद बेन बजावें रंगी।।

इस शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर हुए जिनके लिए नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेदभाव को निर्दिष्ट करने वाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग कर उन्होंने अंत.साधना पर जोर दिया था। पर नाथपंथियों की अन्तःसाधना हृदय-पक्ष शून्य थी। उसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया। आत्मा की परमात्मा के प्रति प्रणयानुभूति के बहुत ही भावुक और रंगीन चित्र कबीर ने अंकित किए हैं। यथा—

"दुलहिनि गावहुँ मंगलचार।
हम घर आए हैं राजा राम भरतार।
तन रति करि हौं, मन रति करि हौं पंचतत्व बाराती।
राम देव मेरे पाहुने आए हौं जोबन मैंमाती।।

भारतीय भक्तिमार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था। निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नही माना जाता था। नाथपंथियों के प्रभाव से जनता का बहुत बड़ा भाग प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य पड़ता जा रहा था। ठीक इसी समय कबीर ने मनुष्य की सामान्य भावना को आगे करके निम्न वर्ग में आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।

जैन साहित्य का भी सन्त साहित्य पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव अवश्य पड़ा है। उदाहरणार्थ—मुनि रामसिंह ने अपने 'पाहुण दोहा' में लिखा है—

मुडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुडिय चित्तुण मुडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ, संसारहं खंडणु तिं कियउ।।

इससे शब्द और भाव का साम्य लिए कबीर का निम्नलिखित दोहा दर्शनीय है—

'दाढी मूँछ मुड़ाय के, हुआ जु घोटमघोट।
मन को क्यों नही मूँडिये, जामें भरिया खोट।।

दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गीय सूफी कवियों की है जिनकी प्रेमगाथाएँ वास्तव में साहित्य कोटि के भीतर आती है। इन साधक कवियो ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलने वाला है। इन प्रेम कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है, पर 'प्रेम की पीर' की जो व्यंजना होती है, वह ऐसी विश्वव्यापक रूप मे होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है। सूफियों के प्रेम-प्रबंधो मे खण्डन-मण्डन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिन्दुओ और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है।

जिस समय मुसलमान भारत मे आए उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई असर न था। वे इधर-उधर पड़े अपना कार्य करते जा रहे थे। पंडितो के शास्त्रार्थ भी होते थे। दार्शनिक खण्डन-मण्डन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्त की थी। कालदर्शी भक्त-कवि जनता के हृदय को सम्भालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नही देश मे बसने वाले सहृदय मुसलमानों मे से भी न जाने कितने आ गए।

यद्यपि भक्ति का आन्दोलन मुस्लिम प्रशासन से उत्पन्न नवीन वातावरण की चुनौती की प्रतिक्रिया थी, इसके प्रायः सभी स्रोत देशी थे। वास्तव मे पराजित और निराश उत्तर भारत को धर्म सुधार की प्रेरणा दक्षिण से ही मिली। पं० रामचन्द्र शुक्ल

के शब्दों मे—"भक्ति का जो स्रोत दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था। उसे राजनीतिक परिवर्तनों के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"

गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्य (सं० 1254-1333) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। 15वी शताब्दी मे विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के प्रणेता रामानुजाचार्य के समर्थ. शिष्य रामानन्द ने विष्णु के अवतार 'राम' की उपासना पर जोर दिया तो दूसरी ओर शुद्धाद्वैतवादी दर्शन के प्रेरक वल्लभाचार्य ने भक्ति सम्प्रदाय का 'पुष्टिमार्ग' चलाया और प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चली जिनमे आगे चलकर हिन्दी काव्य को प्रौढता पर पहुँचाने वाले जगमगाते रत्नो का विकास हुआ। इन भक्तों ने ब्रह्म के 'सत् चित् और आनन्द' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में किया।

सामाजिक परिस्थितियाँ

भारतीय समाज मे वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। हिन्दू समाज में वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नही हो पाता था, फलस्वरूप जातियो-उपजातियो की संख्या मे वृद्धि होती गई और उनके पारस्परिक व्यवहार मे आत्मीयता नही रह गयी थी। वर्ण-व्यवस्था मे आस्था न रखने वालों में भी किसी न किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। अत: उनका सामाजिक जीवन भी अशात और अव्यवस्थित हो उठा था। जनता त्रस्त और पीड़ित रहती थी। उस समय समाज के भीतर तीन ऐसे वर्ग थे(श्रमिक, नौकर और दुकानदार)—जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार था और न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिला करता था। दुकानदारो को अपनी चीजें छिपा कर रखनी पड़ती थी कि कहीं उन पर क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाए। तत्कालीन साधु समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मडराने लगी थी। गोस्वामी तुलसीदास कृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है—

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई का करी'॥"

मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग का जीवन आक्रांत और अनिश्चित था। हिन्दू और मुसलमान जातियाँ एक दूसरे को स्नेह और सम्मान प्रदान करने मे असमर्थ थी। जाति-प्रथा, बाल-विवाह, सती प्रथा दहेज प्रथा, आदि कुरीतियाँ विस्तार पा रही थी। मुसलमानों में दास-प्रथा, पर्दा प्रथा, बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। कट्टर शासकों ने हिन्दू जनता पर अत्याचार भी किया। असख्य हिन्दू इस्लाम धर्म ग्रहण करते जा रहे थे। हिंदुओ मे धार्मिक भेद-भाव और जाति-भेद-भाव की भावना प्रबल थी। छोटी जातियों को हीन और घृणित समझा

जाता था। जनता की आर्थिक स्थिति दयनीय थी, दूसरी ओर शासक वर्ग के पास धन-दौलत की भरमार थी। किसानों से जबरन लगान वसूल किया जाता था, जिसके ना दिये जाने पर उनको स्त्री-बच्चों समेत गुलाम बना लिया जाता था, तथा धर्म परिवर्तन को मजबूर किया जाता था। डब्लू०एच० मोर के शब्दों में—"उच्च अधिकारियों को अकबर के शासन काल मे जितना वेतन मिलता था उतना आज भी भारत मे और विश्व में कही नही दिया जाता। लेकिन इसके विपरीत किसी विशेष योग्यता से रहित नौकर को डेढ़ रुपये माहवार मिलता था और पश्चिमी तट के क्षेत्र मे शायद दो रुपये।"

बार-बार अकाल पड़ने से जनता की आर्थिक स्थिति और भी दयनीय हो चली थी और धार्मिक अन्धविश्वास तथा असहिष्णुता बढ़ने लगी थी।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल में ज्ञानपरक, प्रेमपरक और भक्तिपरक साहित्य को उत्प्रेरित करने वाली उस समय की (तत्कालीन) राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ ही थी। जिनके कारण तत्कालीन समाज परतन्त्रता, धार्मिक विडम्बना, सामाजिक अत्याचार तथा नैतिक पतन के गर्त में गिर चुका था। भारतीय समाज की ऐसी दुर्दशा देखकर इस युग के ज्ञानियों, सन्तों और भक्तो का हृदय दयार्द्र हो उठा और निराशा के इन घुमड़ते बादलों मे भक्ति आन्दोलन बिजली की तरह कौंध गया, जिसके माध्यम से धर्म और संस्कृति की समस्त सृजनात्मक शक्ति का विकास व प्रसार हुआ और नव चेतना का स्फुरण और स्पन्दन हो गया। इन भक्त कवियों ने त्रस्त जनता को आत्म प्रेरणा देकर साहस के साथ खड़े होने का संदेश दिया। ज्ञान और भक्ति की उत्कट भावना के साथ ही साथ सरस्वती का अमूल्य वैभव काव्य प्रतिभा भी इन कवियों को भगवत् कृपा से प्राप्त थी। अतः दोनों सुयोगो के मिल जाने के कारण इन कवियों की अमर वाणी ने निराशा के गर्त में पड़ी हुई असहाय और अशक्त हिन्दू जनता के कानों में ज्ञान, कर्म, योग, प्रेम और भक्ति का ऐसा अमोघ मंत्र फूंका जिससे अध.पतन की ओर जाती हुई हिन्दू जाति फिर से सम्भल गई। उसके हृदय में मुसलमानों का भय समाप्त हो गया। गोस्वामी तुलसीदास ने हिन्दू जनता को भयमुक्त करते हुए लिखा है—

जब जब होइ धर्म की हानी,
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा,
हरहिं देव-रिपि मुनि कर पीरा।।

भक्तिकाल-स्वर्णयुग

हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से 1700 तक का माना गया है। विद्वानों ने इस युग को 'स्वर्ण युग' की संज्ञा से अभिहित किया है। भक्तिकाल मे चार शाखाओं का विकास हुआ—ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, कृष्णमार्गी और राममार्गी। इन चारों शाखाओं मे शुद्ध, रसात्मक, भावात्मक, सजीव, मार्मिक और प्रेरणादायक काव्य लिखा गया। इस समस्त काव्य मे धार्मिक भावना की प्रधानता है। यही कारण है कि आज भी इस साहित्य का समाज में बड़ा आदर है।

ऐसा काव्य न तो वीरगाथाकाल में ही लिखा गया और न रीतिकाल में, जो गिरे हुए मानव के मनोबल को बढा सकता हो। वीरगाथा कालीन व रीतिकालीन साहित्य सामन्तो के लिए लिखा गया, जबकि भक्तिकालीन साहित्य सामान्य जन-जीवन की भावनाओं को ध्यान मे रखकर लिखा गया। इस काव्य के पठन-पाठन द्वारा शिक्षित, अशिक्षित, धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, ज्ञानी-मूर्ख, बालक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष, लोक में सुख और शान्ति तथा परलोक मे मुक्ति प्राप्त कर सकते है। इस युग का काव्य हिन्दी-साहित्य मे ही नही बल्कि विश्व-साहित्य मे अपना प्रमुख स्थान रखता है, क्योकि यह काव्य पूर्णतया अध्यात्म भावना, साधना और उपासना, योग तथा भक्ति, ज्ञान तथा प्रेम, सदाचार तथा शिष्टाचार एवं उदात्त मानवीय भावों जैसे—सत्य अहिंसा, त्याग, तप, करुणा, क्षमा, बलिदान, परोपकार आदि का समर्थन करते हुए इसके त्याग की प्रेरणा देता है। इस युग का सम्पूर्ण काव्य पूर्णतः, लोक-कल्याणकारी, बहुजन हिताय, बहुजन रताय, वसुधैव कुटुम्बकम् तथा सत्यं, शिव और सुन्दरम् के सार्वभौमिक सिद्धांतो को आधार बनाकर रचा गया है। अतः यह काव्य देश और विदेश, भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी कालों में समान रूप से ग्रहण होता आ रहा है। इस युग के सभी कवि पूर्णतया विरक्त योगी, और संन्यासी, संत और महात्मा, माया से मुक्त धर्म का पालन करने वाले त्यागी, सन्तोषी और समदर्शी, दयालु और परोपकारी, तपस्वी तथा महान् संत और भक्त रहे हैं। अतः इस युग का काव्य स्वान्तः सुखाय के स्थान पर पूर्णतया परान्तः सुखाय ही है। इसीलिए इस युग के काव्य का जन-सामान्य मे यहाँ तक कि घर-घर में प्रचार है। तुलसीदास कृत 'श्री रामचरितमानस' तो घर-घर में पूजा जाता है तथा उसका नित्य पाठ भी किया जाता है।

हिन्दी के भक्ति-काल को इसलिए भी उत्कृष्ट व महान् कहा जाता है, कि इस का काव्य महान् पुरुषों, लोकनायकों तथा उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी कवियों द्वारा लिखा

गया है। इस काव्य में निम्नलिखित महान् उद्देश्यों की पूर्ति दिखाई देती है—

धर्म्यं यशस्य आयुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेश-जननं नाट्य-मेतद्भविष्यति ॥

तथा

धर्मार्थकाममोक्षेपु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीति कीर्ति च साधु काव्य निबद्धनम् ॥

उपर्युक्त में भरत तथा भामह के काव्य प्रयोजनों का दिग्दर्शन कराया गया है। भरत के अनुसार धर्म, यश, आयु बढ़ाने, वुद्धि बढाने तथा लोकोपदेश देने के लिए ही नाटक की रचना की जाती है। भामह के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को प्राप्त करने, कलाओं में विलक्षणता लाने तथा कीर्ति और प्रीति को बढाने के लिए ही काव्य का निर्माण होता है। इस प्रकार भक्ति काल में काव्य का निर्माण महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया।

इन्हीं सब विशेषताओं के आधार पर इस युग के काव्य की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन यहां किया जाता है—

ईश्वर का निर्गुण व सगुण रूप— भक्ति काल में ही सर्वप्रथम ईश्वर को निर्गुण व सगुण रूप में देखा गया। सूफी संतों ने जहाँ एक ओर एकेश्वरवाद का प्रचार किया वहाँ निर्गुणवादी संतों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। कबीर दास जी कहते हैं—

निर्गुण राम जपहु रे भाई,
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै, ता गति लखी न जाई।

दूसरी तरफ भक्तिकाल में सूर और तुलसी जैसे कवियो ने ईश्वर के सगुण रूप की उपासना करने पर जोर दिया। इनके अनुसार निर्गुण, निराकार ईश्वर की उपासना बिना आधार के सम्भव नही। जब तक जन-सामान्य के लिए एक आकार या आधार न हो वह शून्य के लिए अपने मन में पूजा और श्रद्धा का भाव नही बना सकती। इसीलिए सगुणोपासकों ने ईश्वर के आकार की परिकल्पना करके उसके पूजा का विधान किया और भक्ति को महत्व प्रदान किया। निर्गुणोपासना दुरूह व कष्ट साध्य है जबकि सगुणोपासना सरल व हृदय भाव से अभिव्यक्त भक्ति है। सूरदास ने इसी भाव को इन पंक्तियो में दर्शाया है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ॥
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-वानी को अगम-अगोचर सो जानें जो पावै ॥
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-लीला पद गावै

ईश्वर के सगुण-रूप मे विष्णु के अवतारों की उपासना की गई कवियो ने श्रीराम की उपासना पर बल दिया और कृष्णभक्त कवियों ने

उपासना पर बल दिया। इस प्रकार ईश्वर का रूप जन सामान्य के लिए सहज-सरल हो गया और वह मूर्ति-पूजा कर अपना ध्यान इस मूर्त-ईश्वर के समक्ष लगा कर भक्ति करने लगा।

इस प्रकार योगियो व साधुओं के लिए निर्गुण ईश्वर की उपासना का प्राविधान और सामान्य भक्तजनो के लिए सगुण रूपधारी ईश्वर की भक्ति का प्राविधान करके इस युग मे समस्त योगियों और भक्तों की भावनाओ को ध्यान में रखा गया व उनका आदर किया गया। ऐसी भावना आदि काल व रीतिकाल मे देखने को नही मिलती।

भक्ति-भावना का प्राधान्य—भक्ति काल की चारों शाखाओं मे भक्ति-भावना की प्रधानता रही है चाहे वह निर्गुण को मानने वाले हो या सगुण रूप को। भक्ति को सभी ने अपनी साधना मे स्थान दिया है। कबीर ने निर्गुण होते हुए भी भक्ति को प्रधान माना है और कहा है कि भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भगति भजन हरि नाँव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मणा कबीर सुमिरन सार।।

सूर और तुलसी का तो सम्पूर्ण काव्य ही भक्ति भावना से भरा हुआ है। तुलसी का 'रामचरितमानस' तो भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमे भक्ति-भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। तुलसी ने कहा है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

समन्वय की भावना—समन्वय से तात्पर्य दो या दो से अधिक विभिन्न विचार-धाराओ अथवा मतो के बीच एक ऐसी समानता की प्रतिष्ठा करना है जो उनके पारस्परिक विरोध को दूर करने मे समर्थ हो। भक्ति-काल की चारों शाखाओ में ज्ञान और भक्ति के समन्वय, निर्गुण और सगुण के समन्वय, वैष्णव-शाक्त-शैव आदि सभी वर्गों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है।

भक्ति-काल मे ज्ञान और भक्ति दोनो को ही समान महत्व दिया गया है व एक-दूसरे के लिए आवश्यक बताया गया है। बिना ज्ञान के भक्ति अनाचार मे चली जाती है और बिना भक्ति के ज्ञान शुष्क और नीरस हो जाता है। तुलसी दास ने इस सम्बन्ध में कहा है—

'ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कुछ भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।'
'बिना बसीले चाकरी, बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान को जोगना, फिरै लगाये खेह।।'

भक्तिकाल मे ईश्वर के निर्गुण व सगुण दोनो ही रूपों को समान महत्व दिया गया है। तुलसीदास ने इस सम्बन्ध मे कहा है—

'जप राम रूप अनूप निर्गुण-सगुण प्रभु प्रेरक सही।'

कबीर दास ने भी कहा है—

"सन्तो धोखा कासूं कहिये।
गुन में निरगुन-निरगुन में गुन बाँट छाडि क्यो रहिये।

महात्मा तुलसीदास तो इतने बड़े समन्वयवादी थे कि उन्होने स्थान-स्थान पर

गणेश, शंकर, गंगा, हनुमान आदि की स्तुति की है। उन्होंने इसी समन्वय भावना के आधार पर राम को शिवजी और शिवजी को राम की उपासना करते हुए दिखाया है। सेतुबन्ध के समय राम, शंकर-भक्ति का संकेत करते हुए कहते है—

'करिहहुँ यहाँ लिंग थापना, मोरे हृदय परम कल्पना।
लिंग थापि विधिवत करि पूजा, शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'
'शिव द्रोही मम भक्त कहावा, सो नर मोहि सपनेहु नही भावा।'
'शंकरप्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
सो नर करिहहिं कल्पभरि, घोर नरक मे बास।।'

इसी प्रकार भगवान् शंकर को राम-भक्ति मे निरंतर लीन दिखलाया है। 'राम-चरितमानस' की कथा मे शंकर-पार्वती से राम की कथा कहते हैं। जब राम सीता-हरण के समय सीता की खोज में वन मे घूमते है तभी सती को मोह हो जाता है। इस अपराध में शंकर सती का परित्याग कर देते है। बार-बार शंकर के मुख से राम में ब्रह्म तत्व का आरोप तथा रामभक्ति का उपदेश है—

'उमा अखण्ड एक रघुराई। नरपति भाव कृपालु दिखाई।'
'उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।'
'उमा कहूँ में अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना।।'

तुलसीदास की इसी समन्वय-भावना को देखकर शुक्लजी ने कहा—

"तुलसी का काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है।"

ज्ञानोपासना—निर्गुणोपासक भक्त कवियो ने ज्ञान-साधना पर बल दिया है। इनकी साधना-पद्धति में हठयोग, योग, प्राणायाम, संयम, जय, तप, ध्यान आदि का विपद चित्रण मिलता है। ज्ञान-साधना से माया से निवृत्ति पाई जाती है। चित्रवृत्तियों पर निरोध पाया जाता है और मन को सांसारिक माया से हटाकर ईश्वर की साधना मे लगाया जाता है। जब ज्ञान की आँधी आती है तो माया का बन्धन टूट जाता है। अपने-पराये की भावना नष्ट हो जाती है, त्रिस्ना नष्ट हो जाती है और कुबुद्धि का सारा कूड़ा (बुरे भाव) असत्य, हिंसा, पाप पाखंड निकल जाते है और सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, त्याग, तप, करुणा, क्षमा, बलिदान आदि का संचार हो जाता है और इस प्रकार सभी दुष्प्रवृत्तियों से हटकर सत्यता का ज्ञान हो जाता है। मन ईश्वर मे लग जाता है। कबीरदास ने इसी भाव को कुछ इस प्रकार कहा है—

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रही न बांधी।
हित-चित की द्वै थूनी गिरानी मोह बलीड़ा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि कुबुधि का भाड़ा फूटा।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति तब जानी।

सूफी कवियो ने भी हठयोग आदि स्थितियों को अपनाते हुए ईश्वर की प्राप्ति में सहायक माना है। सगुण भक्त कवियों ने भी ज्ञान को अपनी भक्ति में स्थान दिया है और संयम, सदाचार को भक्ति का मूल माना है।

माया का अस्तित्व—भक्तिकालीन सभी कवियों ने आत्मा व परमात्मा के मिलन में माया को सबसे बड़ी बाधा माना है। सभी कवियों ने माया की समान रूप से निन्दा की है व उससे बचने के लिए कहा है। सभी कवियों ने माया का आधार सांसारिक भोगों को माना है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, अपने-पराये आदि की भावना ही माया है। माया के रूप का चित्रण इस प्रकार किया गया है।

1. माया महा ठगिनि हम जानी।
   त्रिगुन फाँस लिये कर डोले बोलै मधुरी बानी। (कबीर)
2. मैं अरु मोर तोर तें माया, जेहि वस कीन्हे जीव निकाया। (तुलसी)
3. हरि, तेरो भजन कियो नही जाइ।
   कहा करौं तेरी प्रबल माया देतिमन भरमाइ। (सूरदास)
4. माया नटी लकुटी कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै।
   दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै।
   तुम सो कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै।
   मन अभिलाप-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
   सोवत सपने मैं ज्यों संपति, त्यौ दिखाइ बौरावै।
   महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
   ज्यो दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै। (सूरदास)
5. इक डाइन मोरे मन वसै, निति उठि मेरे मन को डसै।
   या डाइन के लरिका पाँच, निसि दिन मोहे नचावै नाच।। (कबीर)

इस माया से बचने की प्रेरणा सभी ने दी है, ज्ञान और भक्ति द्वारा ही इस माया से बचा जा सकता है। आत्मारूपी दर्पण को हमेशा स्वच्छ रखना चाहिए।

दार्शनिक चिंतन—दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर, जीव, जगत, माया और मोक्ष की स्थिति पर विचार किया जाता है। भक्तिकालीन सभी कवियो ने दर्शन के इन तत्वों पर विचार किया है।

ईश्वर को निर्गुण भक्त कवियों ने निराकार माना है। वह संसार के कण-कण में अलौकिक रूप में विद्यमान है। वह घट-घट में समाया हुआ है। वह देश-काल से परे है।

'खालिक खलक खलक में खालिक, सब जग रह्यो समाइ।'

वह सभी का उत्पत्ति कर्त्ता है।

अक्षयवट एक पेड़ है निर्जन ताकी डार।
त्रिदेवा साखा भये पात भया संसार।।

सगुण भक्त कवियो ने भी उसे निर्गुण रूप में स्वीकारा है जो कि धरती पर सगुण रूप में भक्तो का उद्धार करने आता है। यथा—

वेद उपनिषद यश कहें निर्गुणहि बतावै।
सोइ सगुण होई नन्द की दाँवरी बंधावै।।

कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत बिलम्ब न लावै।
ताको लिये नन्द की रानी नाना रूप खिलावै।

जीव को सभी ने परमात्मा का अंश कहा है। आत्मा माया के कारण परमात्मा से बिछुड़ गई है। कबीर ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं मिलाना यह तथ कथोगियानी।

सूर ने भी इस प्रकार कहा है—

'तनु मिथ्या क्षण भंगुर मानो। चेतन जीव सदा थिर जानो।

कबीर ने जीव को अजर-अमर माना है—

हरि मरि हैं तो हमहूं मरिहैं, हरिन मरिहै तो हम काहेकूं मरिहैं।

जगत को सभी कवियों ने असत्य माना है। वह क्षण भंगुर है। सेमर के फूल के समान है, रुई के गोले के समान है। पानी के बुलबुले के समान है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'यह ऐसा संसार है जैसे सेमर फूल।
दिन दस के व्योहार है झूठे रग न भूल।।'
'समझि विचार जोऊ जब देखा, यह संसार सुपन करि लेखा।'
'अरे मन मूरख जनम गंवायो।
यह संसार सुआ सेमर ज्यों सुन्दर देखि लुभायो।
चाखन लाग्यो रुई उड़ि गई हाथ कछू नहिं आयो।

माया का वर्णन भी सभी कवियों ने आत्मा-परमात्मा के मध्य बाधा के रूप में किया है। इसका विवेचन हम 'माया के अस्तित्व' शीर्षक मे कर चुके है।

मोक्ष को भक्ति या उपासना का प्रयोजन माना है। मोक्ष की धारणा भी भारतीय दर्शन की मूल्यवान् धारणा है। माया के बन्धन में बँधा हुआ जीव भगवान् की भक्ति द्वारा जब जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उसे मोक्ष कहा जाता है। कबीर मोक्ष को पूर्ण मुक्तावस्था मानते हैं। उनका विश्वास है कि मोक्ष की दशा में सब प्रकार के बन्धन, यहाँ तक कि जन्म-मरण के बन्धन भी मुक्तावस्था को अभिभूत नही कर सकते। मुक्तावस्था मे सब प्रकार के बन्धनों से निर्बन्ध होकर आत्मा अविनासी स्वरूप शुद्ध मुक्त ब्रह्म स्वरूप हो जाती है। यही परमपद की अवस्था है।

बहुरि हम काहे कूं आवेंगे।
बिछुरे पंच तत्व की रचना हम रामहि पावेंगे।

सगुण भक्त कवियो ने सालोक्य, सायुज्ज, तथा सानिध्य मुक्ति को स्वीकारा है। सूर तो भगवान् के निवास स्थान गोलोक मे जाकर उनके चरणो मे रहने की कामना करते हैं। यही सालोक्य मुक्ति है।

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होत नहिं कबहूँ सोइ सागर सुख जोग।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकालीन कवियों ने दार्शनिक

मान्यताओ का स्पष्ट व स्वाभाविक वर्णन किया है। यह दार्शनिक भावना आदिकाल या रीतिकाल में कही भी नहीं मिलती। यह भक्ति काल की निजी विशेषता है।

रहस्यवादी धारणा—जैसा कि हम जानते हैं कि ईश्वर निर्गुणतीत व अलौकिक है। साधक उसे प्राप्त करने के लिए जिस मार्ग को अपनाते हैं उसे, रहस्यवाद कहते हैं।

रहस्यवाद निर्गुण कवियों के काव्य मे ही मिलता है। सूफी तथा सन्त कवियों ने रहस्यवादी धारणा को अपनाया है। साधनात्मक, भावात्मक और प्रकृतिमूलक तीन प्रकार का रहस्यवाद होता है। साधनात्मक रहस्यवाद में साधक हठयोग प्रक्रिया आदि के माध्यम से ईश्वर के सामीप्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। भावनात्मक रहस्यवाद मे साधक पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित करता है। और प्रकृतिमूलक रहस्यवाद में साधक समस्त प्रकृतिमूलक पदार्थों मे ईश्वर के अस्तित्व का आभास प्राप्त करता है। निर्गुण भक्त कवियों मे तीनों ही प्रकार के रहस्यवाद को अपनी साधना में स्थान दिया है। कबीर ने साधनात्मक और भावनात्मक रहस्यवाद के अनूठे चित्र अपने काव्य मे खीचे हैं। जायसी का भावात्मक रहस्यवाद तो अपनी सानी ही नही रखता।

लोक मगल की भावना (जीवन-दर्शन)—सम्पूर्ण भक्ति कालीन काव्य आदि से लेकर अन्त तक लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सन्त, सूफी, राम और कृष्ण भक्तकवियों मे अनेक सार्वभौमिक सत्य पर आधारित असंख्य लोकोक्तियों और सूक्तियों के प्रयोग किये हैं जिनके द्वारा समाज को शिक्षा, उपदेश और प्रेरणा मिलतीर ही है। धार्मिक पाखण्डों का खण्डन, ऊँच-नीच की भावना का विरोध, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का समाधान, सद्भावना, सदाचार और शिष्टाचार आदि सभी लोकोपयोगी तत्वों का निरूपण बड़ी ही प्रेरणादायक, सजीव, मार्मिक और गम्भीर युक्तियों के द्वारा किया गया है। इसीलिए इन कवियों की उक्तियाँ समाज के हाई-कोर्ट की नजीरें बन गई हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

1. बैठि सिहासन गूंजे, सिह चरै नहिं घास।
2. बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
   जे नर बकरी खात हैं, ताको कौन हवाल॥
3. केसन कहा बिगारिया जो मूड़े सौ बार।
   मन को काहे न मूड़ता, जामें बड़ा बिकार॥
4. सूरदास तीन्हों नहिं उपजें धनिया, धान, कुम्हेड़ो।
5. वरुभल नरक वास सुर त्राता, दुष्ट संग नहिं देइ विधाता।
6. धीरज धरम मित्र अरु नारी, आपद काल परख यहि चारी।
7. ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।

इन सभी उदाहरणों मे लोक-कल्याण के तत्व कूट-कूटकर भरे हुए हैं।

महान् चरित्रों का चित्रण—उस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इस युग में राम और कृष्ण जैसे अवतार पुरुषो के चरित्रों का मनोहारी, लोककल्याणकारी, प्रेरणादायक चित्रण किया गया है। कृष्ण भक्त कवियों के श्रीकृष्ण और तुलसी के राम

पूर्ण ब्रह्म का अवतार हैं। उनका जन्म ही निर्बलों की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए हुआ है। वे लोक में सुख और परलोक में मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त वे सम्पूर्ण उदात्त मानवीय गुणों से युक्त महान् पुरुष भी हैं। त्याग, तप, सत्य, अहिंसा, दयालुता और परोपकार, क्षमा और शील आदि गुण उनमें कूट-कूटकर भरे हुए हैं। इसीलिए वे देश-काल की सीमाओं से रहित सार्वभौम सत्य से जुड़े हुए सर्वग्राही हैं। महान् पुरुषों के जीवन के साथ-ही-साथ भक्ति-काल के सभी कवियों ने सज्जनों के महान् कर्मों को उदात्त और अनुकरणीय बनाने के लिए खलों और दुराचारियों के दुष्कर्मों का चित्रण भी प्रदर्शित किया है, जैसे रावण, कंस, दुर्योधन आदि। इन महान् चरित्रों के चित्रण द्वारा ही इस युग का काव्य महान् और अनुकरणीय है।

सदाचारमूलकता—भक्तिकालीन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसमें निहित सदाचारमूलकता है। संयम और सदाचार काव्य को उत्कृष्ट व महान् बनाता है। नीति विरोधी बातों का इसमें खण्डन किया गया है। तुलसी की इन पंक्तियों में यह तथ्य परिलक्षित होता है—

कबहुंक हौं यह रहनि रहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न कहोगो।

उदात्ततम काव्य—इस युग का काव्य पूर्णतया रस प्रधान है। कहीं भी रसाभास और भावाभास जन्य अश्लीलता का प्रयोग नहीं होने पाया है। इस युग के काव्य में शान्त रस की प्रधानता है जिसका स्थायी भाव निर्वेद अर्थात् शम है। शान्त के अतिरिक्त अन्य सभी रस जैसे शृंगार, वीर, रौद्र, करुण आदि मर्यादित और निर्वेद से प्रभावित हैं।

रसात्मकता के अतिरिक्त इस युग का काव्य ब्रज और अवधी जैसी सार्वजनिक भाषाओं में लिखा गया है जिसमें क्लिष्टता, रूक्षता, अशक्तता तथा अरोचकता का कहीं भी नाम नहीं है। बल्कि सभी कवियों की भाषा में सरसता, मार्मिकता, गम्भीरता, सजीवता, रोचकता, सरलता, प्रभावोत्पादकता, प्रेरणादायकता और शक्तिमत्ता आदि से अन्त तक दिखाई देती है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है, भक्तिकाल के काव्य में क्लिष्ट और चमत्कारपूर्ण अलंकारों का कहीं भी अनावश्यक प्रयोग नहीं मिलता। सम्पूर्ण काव्य में उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग, विभावना आदि प्रेरणादायक अलंकारों का आवश्यकतानुसार सरल और सरस प्रयोग हुआ है। यही स्थिति छन्द प्रयोग की भी है। भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल ही दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, गीतपद बरवै, रोला आदि मात्रिक छन्दों के ही प्रयोग मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट युग अर्थात् स्वर्ण युग है।

द्वितीय अध्याय

कबीरदास

विभिन्न सम्प्रदाय और कबीर

जहाँ तक कबीर पर किसी सम्प्रदाय के प्रभाव की बात है तो मूलतः तो कबीर अद्वैतवादी थे, किन्तु अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। यहाँ उनका विवेचन सक्षेप मे किया जाता है।

सिद्ध सम्प्रदाय—कबीर की विचारधारा को सिद्ध सम्प्रदाय ने भी प्रभावित किया है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा से एक नये सम्प्रदाय के रूप मे वज्रयान का विकास हुआ। इसी सम्प्रदाय के साधक सिद्ध कहलाये। जिनकी संख्या 84 बतायी जाती है। इन्होंने सहज साधना पर बल देते हुए भोग में ही निर्वाण ढूँढने का प्रयास किया। सिद्धो ने अपनी साधनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति विभिन्न पदो या लोक-गीतो में की है। प्रायः वे अशिक्षित थे। अतः परम्परागत साहित्यिक शैलियो का प्रयोग इनके द्वारा सम्भव नही था। जनता में प्रचलित गीति शैली को अपनाते हुए इन्होने निःसकोच रूप मे अपनी भावनाओं, अनुभूतियों एवं विचारधाराओ की अभिव्यक्ति की।

कबीर और सिद्धों मे अनेक समानताएँ मिलती है। कबीर की भाँति सिद्ध कवि भी जनता के निम्न वर्गो से सम्बन्धित थे जिन्होंने उच्च वर्ग की परम्परागत मान्यताओ का खण्डन निर्भीकता पूर्वक किया। इन्होने सहज साधना पर विशेष बल दिया। कबीर ने भी सहज साधना को स्वीकार किया। यह दूसरी बात है कि दोनो की सहजता का आदर्श भिन्न है। जहाँ सिद्ध कवि सुख से खाते पीते व रमण करते हुए, सृष्टि के चक्र का पूर्णतः अनुसरण करते हुए, परलोक की सिद्धि एवं इस लोक के भय के निराकरण को 'सहज साधना' कहते हैं, वहाँ सन्त कवि कबीर दिव्य-प्रेम की सहजानुभूति को ही सहज साधना मानते हैं। सिद्धो का प्रेम एवं दाम्पत्य जीवन शारीरिकता एव कामुकता पर आधारित है, जबकि कबीर ने उसे सूक्ष्म आध्यात्मिक मिलन के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। अतः सिद्ध साहित्य के विभिन्न तत्व सन्त कबीर के साहित्य से मिलते हैं। किन्तु वे पर्याप्त परिवर्तित और विकसित है। शैली की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य की गीति शैली को कबीर ने अपनाया है। अतः कबीर काव्य की अनेक आधारभूत प्रवृत्तियो के मूल स्रोत के रूप मे सिद्ध साहित्य पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। किन्तु ये प्रवृत्तियाँ सिद्ध साहित्य से सीधी कबीर साहित्य में नही पहुँची हैं, अपितु नाथ पन्थियो मे होती हुई पहुँची हैं।

जैन सम्प्रदाय—छोटे-छोटे मुक्तकों के माध्यम से धर्म, नीति एवं सदाचार की शिक्षा देने कीपरम्परा भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से मिलती है। इसका प्रारम्भिक रूप हम प्राकृत के जैन, बौद्ध साहित्य में देखते हैं। वहाँ उसका विकसित रूप अपभ्रंश और हिन्दी के काव्य में दृष्टिगोचर होता है। जैनियो ने ऐसे सूत्रों की रचना की थी जिनमे उपदेशों की प्रधानता है। जैन कवियों द्वारा विभिन्न धार्मिक तत्वों का खण्डन-मंडन भी मुक्तक शैली मे किया गया है। इसका प्रभाव कबीर पर भी पड़ा। उदाहरण के लिए मुनिराम-सिंह (पाहुण दोहा के रचयिता) एवं कबीर की कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"मुंडिय मुडिय मुंडिय सिरू मुंडिउ चित्तण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारह खंडणु कि कियउ॥' रामसिंह

'दाढी मूंछ मुड़ाय के हुआ घोटम घोट।
मन को क्यों नही मुंडिये, जामे भरिया खोट॥' कबीर

कबीर ने गीति एवं मुक्तक दोनों शैलियो का प्रयोग किया है। सन्त कबीर की काव्य-शैली मे पूर्ववर्ती परम्पराओं से न केवल बाह्य-साम्य है, अपितु उनके स्वर की उग्रता, तर्क की तीक्ष्णता, विचार की स्पष्टता एवं भावना के विभिन्न रूपों की दृष्टि से भी उनमे आन्तरिक एकता मिलती है। अत: कबीर काव्य को इन पूर्ववर्ती परम्पराओ से सम्बद्ध करना अनुचित नही कहा जा सकता।

नाथ सम्प्रदाय—कबीर-काव्य पर नाथो का प्रभाव ही सर्वाधिक रूप मे दृष्टिगोचर होता है। सिद्धो की सहज-साधना की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही नाथ-पन्थ की स्थापना हुई। कुछ विद्वानों ने नाथ-पन्थ को सिद्धो के सहजयान का ही विकसित एवं प्रौढ़ रूप माना है। डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—

'सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था, उसे राज्य-मार्ग बनाने का कार्य नाथ-सम्प्रदाय के सन्तों ने किया। सन्तो की विचारधारा को अपनाकर उसे व्यापकता देते हुए नाथ-सन्तों ने उसे नवीन और प्रगतिशील सिद्धान्तों से समन्वित किया।'

हमारे विचार से नाथ-पन्थी योगियो ने सिद्धों की विचारधारा एवं साधना-पद्धति को अपनाया कम है, उसका बहिष्कार अधिक किया है। सिद्ध जहाँ सहज साधना पर बल देते थे, वहाँ नाथ-पंथियों ने हठ-योग की साधना पर बल दिया है। सिद्धो के लिए नारी का सहवास आवश्यक था, जबकि नाथ-पन्थियों ने उसे बाधक माना है। वस्तुत: सिद्धों का मार्ग भोग मे निर्वाण पाने का है तो नाथ-पन्थियो का योग केद्वारा समाधि प्राप्त करने का है। अत: दोनों मे इतना ही सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है कि इस पन्थ के प्रवर्त्तक एवं प्रचारक गोरखनाथ पहले सहजयान मे दीक्षित थे, किन्तु जिस प्रकार दयानन्द सरस्वती ने अपने ही कुल के सनातनी संस्कारों का विरोध करके आर्य-समाज का प्रवर्त्तन किया वैसे ही इन्होने सिद्धो के भोग का विरोध करके नयेपन्थ की स्थापना की जिसमें योग की प्रतिष्ठा हुई। अत: नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक सामान्यत: गुरु गोरखनाथ ही माने जाते हैं। इनकी रचनाओं मे मुख्यत: गुरु-महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, मन:-साधना, कुडलिनी-जागरण, शून्य-समाधि आदि साधना के विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

"गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला,
गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाईला।"

हमारे लिए इनके साहित्य का महत्व इसी दृष्टि से है कि इनकी विचारधारा, साधना-पद्धति एवं काव्य शैली का परवर्ती कबीर-काव्य पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर के साहित्य में इनके द्वारा प्रतिपादित 'हठ-योग' की प्रक्रियाओं का उल्लेख बार-बार हुआ है। 'हठ-योग' के अनुसार साधक इन्द्रिय निग्रह, आसन, प्राणयाम तथा इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों के साधन द्वारा मूलाधार में स्थिति कुंडलिनी को जागृत करते हैं। विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा यह कुंडलिनी षट्-चक्रों को पार करती हुई अन्तिम चक्र सहस्रार (जो मस्तक में स्थित है) तक पहुंचती है। जहां उसके चरम लक्ष्य की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रक्रिया के द्वारा योगी समाधि अवस्था को प्राप्त करके अलौकिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। हिन्दी के सन्त-कवि कबीर ने इन प्रक्रियाओं का वर्णन करते हुए नाथ-पन्थ की विभिन्न शास्त्रीय शब्दावली जैसे—इड़ा, पिंगला, सुषम्ना, षट्-चक्र, ब्रह्मरन्ध्र, कुंडलिनी आदि का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। किन्तु कबीर ने इनकी 'योग-साधना' के स्थान पर कुछ 'सहज-भक्ति' की प्रतिष्ठा की है। उदाहरणार्थ कबीर की कुछ पंक्तियां यहां द्रष्टव्य हैं—

अवधू जोगी जग थै न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति, करि सींगी नाद न खण्डै धारा॥

उपर्युक्त पंक्तियों का लक्ष्य हठयोग का खण्डन करते हुए 'सहज-भक्ति-योग' की प्रतिष्ठा करना है।

सिद्धों की रचना शैली एवं अभिव्यंजना-पद्धति को कबीर तक पहुँचाने में नाथ-पंथियों ने गहरा योग दिया। सिद्ध-साहित्य 'वासना-प्रधान', नाथ-साहित्य 'साधना-प्रधान', एवं सन्त-साहित्य 'भावना-प्रधान' है। इसीलिए कबीर-साहित्य का महत्व सर्वाधिक माना जाता है।

वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय — कुछ सम्प्रदायों ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करते हुए विष्णु के विभिन्न अवतारों पर आधारित सगुण भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने विष्णु के अन्य अवतारों की अपेक्षा राम और कृष्ण की उपासना पर अधिक बल दिया। कबीर पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव मुख्यतः तीन रूपों में देखा जाता है—

(1) कबीर ने राम, कृष्ण, गोविन्द के अवतारी रूप को अधिक महत्व नहीं दिया, फिर भी अपने आराध्य को प्रायः इन्हीं नामों से स्मरण किया है। उन्होंने 'राम' का अर्थ बदल दिया है, 'वे दशरथ सुत राम नहीं हैं' पर यह उन्हें मूलतः वैष्णव गुरु (रामानन्द) से ही प्राप्त हुआ था।

(2) वैष्णवों की 'प्रपत्ति' या 'आत्म-समर्पण' की भावना का भी प्रभाव इन पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है—

'कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नांउ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं॥'

(3) इनके अतिरिक्त इन पर अहिंसा, सदाचार, नाम-स्मरण, करुणा, गुरु-

महिमा, सत्संग आदि के संस्कार भी वैष्णवों की देन के रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं।

मुसलमान तथा सूफी सम्प्रदाय—कुछ विद्वान् उन पर सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव बतलाते हैं। उनका कहना है कि कबीर प्रच्छन्न सूफी है क्योंकि उन्होंने मुसलमानों के ऐकेश्वरवाद और सूफियो के प्रेमवाद को अपनाया है। परन्तु कबीर-काव्य के अवलोकन से यह स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि कबीर ने हिंसक क्रूर और ढोंगी मुसलमानो की बड़ी तीव्र निन्दा की है। कबीर को सूफियों की प्रेमगाथा से कोई लगाव नहीं था। इसलिए इन्होंने सूफियो द्वारा वर्णित प्रेम का जिसमें साधक को पति और ईश्वर को पत्नी रूप में चित्रित किया है, कहीं उल्लेख नहीं किया; बल्कि उन्होंने भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति रूप में माना है। यह कृष्ण भक्ति काव्य की परंपरा के अनुकूल है। भेद केवल निर्गुण-सगुण का है। कबीर की निर्गुण भावना भारतीय दर्शनों पर आधारित है तथा उसका स्वरूप अद्वैतवाद के अनुरूप है; जबकि इस्लाम का ऐकेश्वरवाद इसके प्रतिकूल है। कबीर के आराध्य उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म है। उसका ईश्वर या खुदा एक ऐसी स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली सत्ता है, जो जीवों पर शासन करती है तथा अन्य दैवी शक्तियाँ भी उसके नियन्त्रण मे रहती हैं; जबकि उपनिषदों का ब्रह्म विभिन्न आत्माओं एवं दैवी शक्तियों से अभिन्न तथा उसका उनसे शासक और शासित का सम्बन्ध नहीं है। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के पर्यायवाची रूप राम, गोविन्द, गोपाल, केशव, माधव आदि को ही ग्रहण किया है।

अतः हम कह सकते हैं कि साधना और आचार पर आधारित कबीर का मत ज्ञान के प्रचार, हिंसा, मूर्ति पूजा, जाति-पाति छुआछूत आदि की निन्दा करते हुए एक विशुद्ध लोक धर्म के रूप में उद्भुत हुआ, जिसका मूल स्रोत पूर्व प्रचलित भारतीय परम्पराएँ ही थी।

अद्वैतवादी सम्प्रदाय—जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है कबीर मूलतः अद्वैतवादी थे। शंकर का "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्म जीवैव ना परः" अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है और संसार (माया) मिथ्या है, तथा ब्रह्म और जीव एक दूसरे से भिन्न नहीं है अर्थात् एक हैं, का सिद्धान्त अपनाते हुए कबीर ने आत्म-साधना में लीन होने, वैराग्य धारण करने और माया से दूर रहने का आग्रह करके स्तुत्य कार्य किया है। वास्तव में कबीर का सम्पूर्ण दर्शन अद्वैतवाद पर ही आधारित है।

अतः यह कहा जा सकता है कि निर्गुणवादी संत कबीर पूर्ववर्ती धार्मिक परम्पराओं से प्रभावित तो थे परन्तु उन्होंने किसी भी परम्परा का अंधानुकरण नहीं किया है। कबीर आचार पर बड़ा बल देते थे,. इसीलिए उन्होंने सिद्धो के 'तीन मकारों' को ग्रहण करने से इन्कार किया, और उनके द्वारा उत्पन्न अनाचार का भी विरोध किया। वैष्णवों के भक्ति, अहिंसा, करुणा, दया तथा सत्य आदि के मूल तत्वों को ग्रहण करते हुए भी इन्होंने मूर्ति पूजा से उत्पन्न अंधविश्वास और ढोंग का विरोध किया। उन्होंने सूफियों के प्रेम तत्त्व को तो अपनाया परन्तु मात्र अलौकिक प्रेम साधना के रूप में। वे लौकिक प्रेम को साधना का विरोधी मानते थे और उससे दूर रहने का उपदेश देते हैं।

इससे स्पष्ट है कि कबीर मूल-रूप में तो निर्गुणवादी संत और ज्ञानी थे साथ ही विचारक, उपदेशक, समाज सुधारक, अछूतोद्धारक, साम्प्रदायिक सद्भाव के संस्थापक लोकनायक, योगी, वैरागी, सदाचारी, सयमी युग-पुरुष, त्यागी, तपस्वी और मुक्त-पुरुष थे। उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती मतों के मात्र गुणों को ही ग्रहण किया था और उनके अवगुणों का त्याग करके समाज को भी इस चुनौती का सामना करने का उपदेश दिया था। परन्तु कबीर मे इसके साथ-ही-साथ एक महान् कवि की प्रतिभा भी संस्कार रूप मे विद्यमान थी। अतः कबीर ने अपने सिद्धान्तो और विचारों का प्रचार करने के लिए काव्य रचना का सहारा लिया, जैसा कि उसके पूर्ववर्ती सिद्ध, जैन और नाथ करते चले आ रहे थे। अत. हम यह कह सकते है कि कबीर मे जहाँ एक महान् संत और लोकनायक के गुण विद्यमान थे वहाँ वे उत्कृष्टतम प्रतिभा के धनी भी थे और इसीलिए उनके काव्य मे सिद्धान्त निरूपण के साथ-ही-साथ साहित्य का भी उदात्ततम रूप विद्यमान है। वे अवतारी संत और महान् कवि थे।

दार्शनिक सिद्धान्त

कबीर स्वभाव से आध्यात्मिक चिन्तक थे। उनकी अध्यात्मचिन्ता तर्क पर आधारित न होकर स्वानुभूति पर टिकी हुई है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन उनके ज्ञान पक्ष और हठयोग के साधना पक्ष के अंतर्गत आता है। दर्शन का विषय मुख्य रूप से ईश्वर, जीव, जगत्, माया तथा मोक्ष ही है। कबीर ने इन सबका विशद् विवेचन किया है, जिसका परिचय यहां दिया जाता है।

ब्रह्म

संसार के कण-कण मे एक अलौकिक अनिर्वचनीय एवं अव्यक्त सत्ता विद्यमान है। इसी सत्ता और आत्मगत अनुभूति का नाम ही ब्रह्म है। कबीर के ब्रह्म वेदान्त के ब्रह्म के समान हैं। उस ससार के रूप में वही अभिव्यक्त होता है। उसका संसार में सर्वत्र निवास है। वह अनन्त है, अखण्ड है, भूमा है, पूर्ण है। कबीर ने कहा है—

"पूरे सो परचा भया।"

उन्होंने उसे द्वैत-अद्वैत के कठघरे में बंद नही किया।

"एक कहो तो है नही दोय कहो तो गारि।
है जैसा वैसा रहे कहे कबीर विचारि॥"

परम ब्रह्म के लिए, ईश्वर के लिए, परम चैतन्य के लिए कबीर ने राम शब्द का प्रयोग किया है। उनका राम निर्गुण है। कबीर के राम उनके गुरु रामानन्द के राम से भिन्न हैं। वे दुष्टदलन रघुनाथ द्विभुजशर चापधारी राम नहीं है। कबीर ने राम, गोविन्द, केशव, हरि इत्यादि प्रचलित शब्दो को व्यापक ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त किया है, पौराणिक अवतार के अर्थ में नही। उन्होने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'दशरथसुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥'

उनके राम दशरथ सुत नही हैं। वह जन्मा नहीं अजन्मा है।

'दशरथ कुल अवतरि नहि आया, नहिं लंका के राय सताया।
नही देवकी के गर्भहि आया, नहीं जसोदा गोद खिलाया॥'

उनका राम तो निर्गुण ब्रह्म है।

'निर्गुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई॥'

कबीर का राम तो निर्गुण से अतीत है और [illegible]

मे समाया हुआ है। वह देश और काल से परे है। उसका न आदि है और न अंत। वह कुछ अश मे वेदान्त के निर्गुण से मिलता है। वह सर्वव्यापक है। कबीर ने स्पष्ट किया है—

"सन्तो धोखा कासूँ कहिये।
गुन मे निरगुन, निरगुन मे गुन वाटि छाड़ि क्यूँ रहिये।
अजर अमर कहे सब कोई अलख न कथणां जाई।
नाति-स्वरूप वरण नहि जाके घट-घट रह्यो समाई।
प्यड-ब्रह्माण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यड-ब्रह्माण्ड छांडि जे कहै कबीर हरि सोई।"

यहा उनकी राम भावना भारतीय भावना से पूर्णरूपेण मिलती है परन्तु कुछ लोग उन्हे मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद का समर्थक बताते है। यह उनका भ्रम है। उनकी निर्गुण भावना भी स्थूल भावना-सी ज्ञात होती है, जो मूर्ति पूजा के पक्ष मे उनकी सगुण भावना की विरोधी बनकर आयी है। कबीर के राम तो केवल निर्गुण है और सगु से ऊपर हैं। कबीर के निर्गुण राम हिन्दू और मुसलमान दोनो के ही आराध्य हैं—

अला एक नूर उपजाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थे सब जग उपजा कौन भला कौन मन्दा।

अल्ला शब्द तो उन्होने राम के स्थान पर हिन्दू तथा मुसलमानो मे एक्य की स्थापना के लिए ही प्रयोग किया जान पड़ता है। क्योकि उन्होने और भी कहा है—

'खालिक खलक खलक मे खालिक, सब जग रह्यो समाई।

यह उनकी भावना भारतीय ब्रह्म भावना के ही अनुकूल है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कबीर की रचनाओ मे यद्यपि भारतीय ब्रह्मवाद का पूरा-पूरा ढांचा पाया जाता है, पर उसकी प्राय वे ही बातें उन्होंने अधिक विस्तृत रूप से वर्णन के लिए उठायी हैं, जो मुसलमानो के खुदावाद मे भी झलकती दिखायी देती है। उनका ब्रह्म अनिर्वचनीय है।

"भारी कहो तो बहु डरो हलका कहो तो झूँठ।
मैं का जानूँ राम कूँ नैना कबहू न दीठ।"

ब्रह्म निर्गुण निराकार है, अनिर्वचनीय है। वह घट-घट का वासी भी है। वह अद्वैत तत्व अखण्ड एक रस है। उपनिषद की भाँति निर्मल और दिव्य प्रकाश स्वरूप है। वह भाव और अभाव दोनो प्रणालियों में अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह सत्-रज्-तम् इन सबसे परे है। अतीव है और चौथे पद पर विराजमान है।

राजस् तामस सातिग तीन्यू से सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे तिनहु परमपद पाया॥

वह बिना माता-पिता का है। वह बिना मुख के बोलता है तथा बिना पैरों से चलता है।

बिनु मुख खाई चरन बिन चालै, बिन जिह्वा गुण गावै।

यह सभी का उत्पत्ति कर्त्ता है। समस्त सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई है। ब्रह्मा, विष्णु महेश भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं—

अक्षयवट एक पेड़ है निरंजन ताकी डार।
त्रिदेवा साखा भये पात भया संसार।।

कबीर ने अपनी भक्ति भावना के आवेश मे भगवान् के अत्यधिक निकट पहुँचने के लिए ब्रह्म के साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा है, जिसमें दाम्पत्य तथा वात्सल्य सम्बन्ध को अपनाया है।

1. हरि मोरे पीव मैं तो राम की बहुरिया।
2. हरि जननी मैं बालक तोरा।

उन्होंने भगवान् की अनन्य शक्ति, सौन्दर्य और विराट स्वरूप का वर्णन भी किया है, जिसमे सम्पूर्ण संसार की देवसृष्टि भी ब्रह्मरूप है।

कोटि सूर जाके परगास,
कोटि महादेव अरु कविलास।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें अवतारवाद तथा सगुण रूप मान्य था। उन्होंने अवतारवाद तथा ब्रह्म के सगुण रूप का सदैव खण्डन किया था। उनके उपास्य तो निर्गुण (राम) ब्रह्म ही है, जिनके लिए न पूजा की आवश्यकता है और न नमाज की।

पूजा करूं न नमाज गुजारूँ,
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे कबीर के ब्रह्म का यह चित्र अक्षरश. ठीक है—

"उनका हरि इन सबसे परे है, वह सगुण और अगुण दोनों के ऊपर है, अजर और अमर दोनों से अतीत है। अरूप और अवर्ण दोनो से परे है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों से अगम्य है।"

संक्षेप मे कबीर का ब्रह्म अलौकिक है। उनकी पूर्ण आस्था सदैव निर्गुण निराकार अव्यक्त के प्रति ही रही है। जिसे उन्होंने राम कहा है।

जीव या आत्मा

मानव शरीर जिस तत्त्व से चलायमान है, वह आत्मा है। वस्तुत. जड शरीर को अनुप्राणित करने वाला मूल तत्त्व आत्मा ही है। कबीर ने आत्मा को परमात्मा के अंगरूप में ही स्वीकार किया है। आत्मा पर माया या अज्ञान का पर्दा पड़ा होने के कारण ही उसे परमात्मा से भिन्न समझा जाता है। कबीर ने इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी।।

दार्शनिक व्याख्या मे इस शरीर मे स्थित आत्मा तथा परमात्मा जो समस्त संसार मे व्याप्त है और संसार उसी के रूपो मे भासित है। आत्मा शरीर के नष्ट हो जाने पर

परमात्मा मे लीन हो जायेगी, जो माया के कारण पृथक् लगती है। आत्मा सर्वव्यापक भी है—

हम सब माहिं सकल हम माही। हम थे और दूसरा नाही।
तीन लोक मे हमरा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥

आत्मा को कबीर ईश्वर के रूप मे अजर-अमर मानते हुए कहते हैं—

हरि मरिहै तो हमहूँ मरिहै, हरि न मरिहैं तो हम काहे कूँ मरिहैं।

आत्मा अह के कारण परमात्मा से नही मिल पाती। यदि अहम् मिट जाये तो आत्मा-परमात्मा एक ही है।

जब मैं था तब हरि नही, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अँधियारा मिट गया, दीपक देख्या माँहि॥

कबीर वास्तव मे मौलिक रूप मे तो अद्वैतवादी थे, परन्तु उनके काव्य मे कुछ ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं जिनमे भेदाभेद सम्बन्धी विशिष्टाद्वैतवाद की निकटता का आभास होता है।

कौतिग दीठा देह बिन रवि ससि बिना उदास।
साहिब सेवा माँहि है बेपरवाही दास॥

जो तर्क से द्वैत को सिद्ध करना चाहते है, कबीर उनको मोटी अक्ल का मानते हैं।

कहै कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने जीवात्मा-परमात्मा का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिये है, उनमे अधिकाशत वेदान्त सम्मत है। जीवात्मा, परमात्मा मे उसी प्रकार मिल जाती है, जिस प्रकार बूंद समुद्र मे।

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समुद मे सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समुद समाना बूंद में सो कत हेरा जाइ॥

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर के आत्मा सम्बन्धी विचारो को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मनुष्य की आत्मा ब्रह्म के साथ एक है और ब्रह्म ही एकमात्र चिरस्थायी सत्ता है, जिसका नाश नही हो सकता। यही कबीर के अमरत्व का रहस्य है।"

सक्षेप मे आत्मा निर्विकार, निराकार एवं अनन्त है। वह जन्म-मरण से रहित है। वह सर्वव्यापी है और सर्वत्र विद्यमान है।

जगत या संसार

समस्त निर्गुण तथा सगुण दार्शनिको ने जगत को मिथ्या माना है। वह क्षणभंगुर है। यह कोरा इन्द्रजाल है। ईश्वर और जीव की भांति संसार भी ब्रह्म से भिन्न नही है। ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार पानी जमकर बर्फ हो जाता है तथा बर्फ

गलकर पानी हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म संसार के रूप में अभिव्यक्त होता है और अन्त में संसार भी उसमें ही विलीन हो जाता है।

पाणी ही ते हिम भया हिम है गया बिलाइ।
जो कछु था सोई भया अब कछु कह्या न जाइ ॥

विश्व, विस्तृत सृष्टि और ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने के लिए ब्रह्मवादी दो उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज मे एक विशाल वृक्ष छिपा रहता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म मे अन्तर्निहित है। आत्मा-परमात्मा तथा जड़ जगत के बीच का सम्बन्ध अद्वैतवादी कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट होता है—

साधा सतगुरु अलख लखाया आप आप दर्शाया,
बीज मध्ये ज्यों वृक्षा दरसे वृक्षा मध्ये छाया।
परमातम मे आतम दरसे आतम मध्ये माया ॥

कबीर ने सृष्टि को सेमर का फूल कहा है—

यह ऐसा संसार है जैसे सेमर फूल।
दिन दस के व्योहार हैं झूठे रंग न भूल ॥

यह संसार स्वप्न-संसार है—

समझि विचार जीऊ जब देखा
यह संसार सुपन करि लेखा।

इस प्रकार यह संसार क्षणभंगुर है। यह दुख का ही घर है। इस सांसारिक जीवन की नश्वरता का वर्णन कबीर ने इस प्रकार किया है—

माली आवत देख के कलियाँ करें पुकारि।
फूली फूली चुन लईं कालिह हमारी बारि ॥

माया

संसार तो मिथ्या है, जो कुछ दिखाई देता है वह माया के कारण। यह माया बड़ी सशक्त है जो सारे संसार को भ्रम में डाल रही है। यह कभी मरती नही। माया ने पीर, मुनि, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी तक को अपने जाल में फँसा रखा है। यह ब्रह्म की दुलहिनी या शक्ति है। इसने ससार को लूट लिया है—

रमैया की दुलहिनी ने लूटा बाजार।

केवल हरि भक्ति और कबीर इस फन्दे से बच गये क्योकि यह हरि भक्तों की चेली है। माया राम की हरि-शक्ति है।

तू माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़।
चतुर चिकारे चुनि-चुनि मारे कोई न छोड्या नेड़ ॥
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करता जोगी।
जंगल माँहि के जंगम मारे तू रे फिरै बलवन्ती ॥

सासित कै तू हरता करता हरि भगतनि की चेरी।
दास कबीर राम के सरने ज्यूँ लागी त्यूँ तारी॥

इस ससार को मनुष्य पार करे भी तो कैसे, माया उसे बीच मे ही पकड़कर खीच लेती है—

मनुआ तो पंछी भया उड़ि के चला अकास।
ऊपर ते ही गिर पड्या या माया के पास॥

माया मे विचित्र मोहिनी शक्ति है। इसलिए वह मधुर प्रतीत होती है—

कबीर माया मोहिणी जैसी मीठी खाँड।

माया सर्वव्यापिनी है। इसके प्रभाव से कोई नही बचा। इसने समस्त जगत को कोल्हू की घानी में डाल रखा है।

कबीर माया मोहनी सब जग घाल्या घाणि।
कोइ एक जन ऊबरै, जिनि तोडी कुल की काणि॥

कबीर ने माया को पापिणी, सर्पणी और कुटिल-दुराचारिणी आदि अनेक नामो से पुकारा है—

1. कबीर माया पापणी, फंद ले बैठी हाटि।
   सब जग तौ फंदे पड्या-गया कबीरा काटि॥
2. कबीर माया-पापिणी लालै लाया लोग।
   पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग॥
3. कबीर माया पापिणी हरि सूँ करै हराम।
   मुख कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम॥

कबीर ने माया की तुलना एक वेश्या से की है जो अपने रूप की हाट लगाकर बैठती है और सभी को मोहित करती है।

जग हटवाड़ा स्वाद ठग माया वेसा लाइ।
रामचरन नीका गही जिनि जाइ जनम ठगाइ॥

कबीर ने माया को दुःखरूपा, बंधनरूपा और अज्ञानरूपा कहा है। माया के आकर्षण से उलझकर जीव, मरण के जजाल में फँसकर उसके दुःख सन्ताप उठाता है। माया के कारण अपने शुद्ध स्वभाव को भूल जाता है। कबीर के अनुसार माया इतनी आकर्षणमय है कि छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी अज्ञानी मनुष्य उसे छोड़ नही सकता।

मीठी मीठी माया तजी न जाई।
अज्ञानी पुरुष को घोलि घोलि खाई॥

माया ही विषय-वासनाओं को जन्म देती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार माया के कारण उत्पन्न होते हैं।

इक डाइन मोरे मन बसै, निति उटि मोरे मन को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच निसि दिन मोहे नचावै नाच॥

ये पंच महाविकार उन चोरों की तरह है जो शरीर रूपी गढ़ मे ही रहते है और उसे रात-दिन लूटते रहते हैं।

"पच चोर गढ मंझा, गढ लूटैं दिवस अरु सझा।"

माया मन को विकृत कर देती है इसी से आशा, तृष्णा, ममता, मान इत्यादि उत्पन्न होते है। शरीर छूटने पर भी माया से छुटकारा नही मिलता, क्योंकि उसने मन पर प्रभाव जमा रखा है—

माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया शरीर।
आसा तृष्णा ना मुई, यों कहि गया कबीर॥

माया से बचने के लिए संसार से विरक्त होना चाहिए। जिस प्रकार उल्टा घड़ा पानी में नही डूबता उसी प्रकार ससार से विमुख व्यक्ति पर माया का प्रभाव नही पड़ता।

औंधा घड़ा न जल मे डूबै सूधा सूभरि भरिया।
जाको यह जन छिन कर चालै ता प्रसाद विस्तरिया॥

कबीर ने माया को दो प्रकार का माना है—मोटी माया और झीनी माया।

मोटी माया सब तजै झीनी तजी न जाय।

मोटी-झीनी माया को कबीर ने क्रमश: भरम और करम का नाम दिया है। इन्ही से आज जीव अज्ञानी हो गया है।

भरम करम दोऊ वरतै लोई, इनका चरित्र न जानै कोई।
इन दोउन संसार भुलावा, इनके लागे ज्ञान गँवावा॥

माया का दूसरा नाम अज्ञान है। दर्पण पर जिस प्रकार कालिख लग जाती है, उसी प्रकार आत्मा पर अज्ञान का आवरण चढ़ जाता है जिससे आत्मा से परमात्मा के दर्शन नही होते। अतः आत्मरूपी दर्पण को साफ रखना चाहिए।

जो दरसन देखना चाहिए तो दरपन मंजत रहिए।
जब दरपन लागै काई तब दरसन किया न जाई॥

मोक्ष या मुक्ति

कबीर मोक्ष को पूर्ण मुक्तावस्था मानते हैं उनका विश्वास है कि मोक्ष की दशा में सब प्रकार के बन्धन, यहाँ तक कि जन्म-मरण के बन्धन भी मुक्तावस्था को अभिभूत नही कर सकते। मुक्तावस्था में सब प्रकार के बन्धनों से निर्बन्ध होकर आत्मा अविनाशी स्वरूप शुद्ध मुक्त ब्रह्म-स्वरूप हो जाती है। यही जीवन्मुक्त की अवस्था है। इसी को प्राप्त कर भक्त जीवन का लाभ उठता है। यही परम पद है।

बहुरि हम काहे कूँ आवेंगे।
बिछुरे पंच तत्व की रचना हम रामहि पावेंगे॥

कबीर ने मुक्ति की दो अवस्थाएँ बताई है—जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। जीवन मुक्ति की अवस्था मे साधक का मन काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहं से

मुक्त होकर सदैव प्रसन्न रहता है। कबीर ने इस मुक्ति का वर्णन भी किया है। असत्य न बोलना, निन्दा न करना, भगवान् के चरणों में अनुरक्त रहना उनका एक मात्र ध्येय था।

जन को काम, क्रोध नही तृष्णा जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द मन गोविन्द गुण गावै॥

जब साधक को आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति हो जाती है, तब वह अपने को ही ब्रह्म समझकर जन्म मरण के भय से मुक्त हो जाता है।

तू तू करता तू भया मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी वलि गई, जित देखौ तित तूं॥

आत्मा सब बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्मत्व का अनुभव करने लगती है, तब सर्वत्र उसी ब्रह्म की सत्ता दिखाई देती है—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

विदेह मुक्ति में उन्मनावस्था रहती है—

हँसी न बोले उन्मनी चंचल मेल्हा मार।
कहै कबीर भीतर भिद्या सतगुरु का हथियार॥

ज्ञान भक्ति में माया के विरुद्ध ज्ञान का भी वर्णन रहता है। जहाँ ज्ञान रहता है वहाँ माया का अस्तित्व नही रहता।

इस प्रकार उपरोक्त आधार पर कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का—जिसमे ब्रह्म, जीव, जगत् तथा माया का निरूपण हुआ है, के आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर मात्र एकेश्वरवादी नही थे—वे ब्रह्मवादी, आत्मवादी तथा अद्वैतवादी थे, क्योंकि एकेश्वरवाद जीव, जगत्, माया और ईश्वर को अलग-अलग मानता है, जबकि ब्रह्मवाद मे शुद्ध परमात्मा तत्व के अतिरिक्त कोई भी सत्ता नही मानी जाती। आत्मा-परमात्मा एक ही है। इस आधार पर कबीर को एकेश्वरवादी कहना तो भ्रम ही है। कबीर के दर्शन पर कुछ लोग उपनिषदों, सूफी प्रेमतत्व तथा वैष्णवों के अहिंसातत्व का भी प्रभाव मानते हैं किन्तु मूलतः कबीर अद्वैतवादी या ब्रह्मवादी थे। पं० सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में—

'भौतिकवाद से रहित भारतीय ब्रह्मवाद को ग्रहण करने वाले कबीर पर जीवात्मा परमात्मा और जड़ जगत् तीनों से भिन्न सत्ता मानने वाले भौतिकवाद से युक्त एकेश्वरवाद का प्रभाव नही पड़ता। वे चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानते थे। आत्मा और जगत् अंत मे उसी परमात्मा मे विलीन हो जाता है, संसार में उन्हें चारों ओर ब्रह्म ही दिखाई देता है।'

कबीर का रहस्यवाद

हिन्दी मे रहस्यवाद की परम्परा बहुत प्राचीन है। हिन्दी में सर्वप्रथम रहस्यवाद के दर्शन सिद्धों और नाथपंथी योगियों के साहित्य मे होते है, पर सिद्धों और नाथों का रहस्यवाद अत्यन्त अस्पष्ट और उलझा हुआ है। रहस्यवाद का विकसित एवं परिपुष्ट रूप तो सर्वप्रथम निर्गुण के उपासक कबीर के काव्य में ही दृष्टिगत होता है। कबीर एक निर्गुणवादी कवि थे। हिन्दी में रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर का विशिष्ट स्थान है। साथ ही साथ वे भक्ति के क्षेत्र मे भी योग साधना (ज्ञान) तथा हृदय साधना (प्रेम) को विशेष महत्व देते हैं। कबीर के रहस्यवाद पर शंकर के अद्वैतवाद के सिद्धान्तो और सूफी मत का गहरा प्रभाव पड़ा है। अद्वैतवाद के सिद्धान्तो के अनुसार कबीर ने ज्ञान द्वारा माया के आवरण के छिन्न हो जाने पर आत्मा और परमात्मा की एकता का वर्णन ऐसे दो पदों मे किया है—

जल मे कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि मिलाना यह तथ कथो गियानी।।

कबीर के रहस्यवाद का वर्णन करने से पहले रहस्यवाद के सम्बन्ध में जानना भी आवश्यक है। सृष्टि के अनन्त व्यापारो को प्रतिदिन और क्षण-क्षण देखकर अनादि काल से मानव-मन उसके रहस्य को जानने का जिज्ञासु रहा है। उसे आश्चर्य होता है कि यह व्यापार किसके संकेत पर चल रहा है। श्री जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' मे इसी जिज्ञासा को कुछ यों व्यक्त किया है।

महानील इस परम व्योम मे
अन्तरिक्ष मे ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं संधान।।

यही जिज्ञासा साहित्य-क्षेत्र मे अभिव्यक्ति होकर रहस्यवाद कहलाती है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है।

"रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिससे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"साधना के क्षेत्र मे जो अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र मे रहस्यवाद है।"

उपर्युक्त कथनों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है और इसी प्रेम सम्बन्ध का पर्यावसान आत्मा की परमात्मा मे लयावस्था में हो जाता है। इसका मूल तत्व हृदय में ईश्वरानुभूति का होना है। यह अनुभूति रहस्यमयी होती है। इसलिए रहस्यवादी कवि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेता है और उसकी वाणी मे अटपटापन तथा गम्भीरता आ जाती है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेम-साधना रहस्यवाद का विषय तथा प्रतीकात्मकता शैली है। बिना प्रतीकों के रहस्यवाद का निरूपण नही होता। रहस्यवाद

एक प्रकार से निर्गुणोपासना (साधना और भक्ति भावना) का ही दूसरा नाम है। जिस प्रकार सगुणोपासना को हम भक्ति कहते हैं उसी प्रकार निर्गुणोपासना को रहस्यवाद कहना उचित होगा।

रहस्यवाद का तात्पर्य है—

1. निर्गुण ब्रह्म के प्रति साधक (आत्मा) का प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना।
2. प्रेम का विस्तार जड़ और चेतन तक करना।
3. अंतर्मुखी साधना के द्वारा मन की शुद्धि तथा ज्ञान की प्राप्ति।
4. रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति मूलक प्रतीकों का प्रयोग।

उपर्युक्त आधार पर रहस्यवाद तीन प्रकार का माना जाता है—

1. भावात्मक रहस्यवाद (दाम्पत्य प्रेम सम्बन्ध)
2. साधनात्मक रहस्यवाद (हठयोग)
3. प्रकृतिमूलक रहस्यवाद (सम्पूर्ण प्रकृति में परमात्मा का दर्शन)

कबीर के काव्य में रहस्यवाद के तीनों रूपों का ही वर्णन मिलता है। यद्यपि प्रधानता साधनामूलक रहस्यवाद की ही है। कबीर के रहस्यवाद पर नाथपंथियों की प्रतीकात्मक पद्धति तथा सूफी कवियों की प्रेमभावना का प्रभाव बतलाते हैं। साथ ही साथ गीता, उपनिषदों आदि भारतीय ग्रंथों में भी रहस्यवाद का रूप पाया जाता है। कबीर का रहस्यवाद शुद्ध भारतीय पद्धति पर आधारित है। जिसमें आत्मा या साधक को स्त्री तथा निर्गुण ब्रह्म को पति रूप में चित्रित कर विरहिणी की दशा और उससे मिलने की आनन्दावस्था का चित्रण किया गया है। इस प्रकार भारतीय रहस्यवाद का मूल तत्व सर्वात्मवाद है, जो कबीर में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, क्योंकि कबीर ने परमात्मा को प्रियतम और जगत् के नाना रूपों को स्त्री रूप में देखा है, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने नाथपंथियों की प्रतीकात्मक पद्धति को भी अपनाया है। यद्यपि आचार्य शुक्ल कबीर पर सूफियों का प्रभाव बतलाते हैं, किन्तु कबीर पर इसका प्रभाव इसलिए नहीं है कि सूफी साधक अपने को पति और परमात्मा को स्त्री-रूप में स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है कि कबीर पर भारतीय रहस्यवाद का ही प्रभाव है। संक्षेप में यहाँ कबीर के रहस्यवाद का निरूपण किया जाता है—

भावना मूलक रहस्यवाद

भावनामूलक रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ हैं—

1. आत्मा का परमात्मा से प्रेम सम्बन्ध।
2. विरह।
3. मिलन।

भावनात्मक रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म से आत्मा का दाम्पत्य प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। माधुर्य या प्रेम तत्व के कारण रहस्यवादी कवि आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति (सूफी परमात्मा को पत्नी तथा आत्मा को पति) रूप में मानकर प्रेम

के वियोग और संयोग पक्ष की मार्मिक अभिव्यंजना करते हैं, जो उनके भावनात्मक रहस्यवाद को उद्घाटित करती है। जब आत्मा को परमात्मा की साधना द्वारा या गुणों द्वारा अनुभूति हो जाती है तो वह उसके मिलन के लिए तड़पने लगती है। उसका खान-पान, सोना-उठना-बैठना सब दूभर हो जाता है और अन्त में जब साधना पूरी हो जाती है तो वह मिलनावस्था में पहुँचकर मिलन के सुख का अनुभव करती है और लयावस्था को प्राप्त हो प्रियतम रूपी ब्रह्म से मिल जाती है। यही इसका आध्यात्मिक रूप है अर्थात् निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेमानुभूति-विरह और फिर मिलन — मोक्ष या धाम में जाकर परिवर्तित हो जाते हैं।

कबीर ने परमात्मा को प्रियतम और साधक को पत्नी रूप में देखा है। मीराबाई ने तो केवल श्रीकृष्ण को ही अपना प्रियतम माना है, अन्य किसी की साधना उन्होंने नहीं की। कबीर का साधक को स्त्री रूप में देखने का कारण यह है कि मार्मिकता और आत्म-समर्पण नारी में ही अधिक होती है। कबीर स्वयं को राम की पत्नी कहते हैं—

'हरि मेरे पीव मैं तो राम की बहुरिया।'

प्रेम की स्थिति के अन्तर्गत कबीर ने विरह की अनेक अभिव्यक्तियाँ की हैं। वे स्वयं को ऐसी नारी के रूप में चित्रित करते हैं जो प्रियतम से मिलने को व्याकुल है—

बालम आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।

जब विरहावस्था अधिक तीव्र हो जाती है तब विरहिणी अपने शरीर को विरह ताप में जलाकर राम का नाम लिखकर अपनी दशा को राम के पास भेजने को आतुर है।

यह तन जारों मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखनि करौ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥

कबीर को अपना विरह साधारण प्रतीत नहीं होता। उसका विरह तो बड़ा गम्भीर है। जिसके गोविन्द बिछुड़ गये हैं उसका क्या हाल होता है; उसकी ओर संकेत करके वे अपने विरह की महत्ता को व्यक्त करते हैं।

बासर सुख न रैनि सुख ना सुख सपनेहु माँहि।
कबीर बिछुड्या राम सूँ, ना सुख धूप न छाँहि॥

अब तो विरहिणी पंथ में खड़ी होकर पंथियों को दौड़-दौड़ कर पूछती है कि कोई मेरे प्रिय की ओर से केवल एक शब्द ही कह दे कि वे कब आयेंगे। विरहोत्कंठा की मार्मिक व्यंजना निम्न उदाहरण में बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है,

विरहिनि उभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलोगे आइ॥

विरहिणी की आकुलता बहुत अधिक है और मिलने की कोई अवधि भी तो नहीं है।

'चकवी बिछुरी रैनि की आइ मिली परभात।
जे जन बिछुरे राम तैं, वे दिन मिलै न रात॥

पंथ निहारते-निहारते उसकी आँखों में झाईं पड़ गयी और राम पुकारते हुए जीभ में छाले पड़ गये।

आँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाल्या पड़या, राम पुकारि पुकारि॥

विरहिणी विरह से इतनी जल चुकी है कि समुद्र भी उसकी अग्नि को बुझाने में पर्याप्त नहीं, बल्कि वह भी विरह की अग्नि से जल उठता है।

विरह जलाई मैं जली, जलती जलहरि जाऊँ।
मो देखा जलहरि जले, संतों कहा बुझाऊँ॥

वह योगिनी का वेश धारण करती है और जिस भी तरह ईश्वर मिले वह सब कुछ करने को तैयार है।

फारि पटोरा धज करूँ, कामलिया पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषा हरि मिले, सोइ सोइ वेश कराऊँ॥

समस्त संसार तो सुख की नींद में सो रहा है केवल एक दास कबीर ही ऐसा है जो जागता रहता है और रोता रहता है।

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

वियोगिनी उन दिनों की बाट जोहती है, जब वह प्रिय का आलिंगन करेगी।

वे दिन कब आवेंगे माई।
जा कारनि हम देह धरी है मिलवौ अंग लगाई।

साधना पूर्ण होने पर आत्मा-परमात्मा का मिलन हो जाता है। कबीर ने विरहिणी को पतिव्रता, सुहागिनी और कहीं दुलहिनी के रूप में चित्रित किया है। कबीर ने आत्मा-परमात्मा के मिलन का बड़ा ही अनूठा चित्र खींचा है।

"नैनन की कर कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै पिय को लेंउ रिझाइ॥

वह उसे नैनों के अन्दर बिठा लेना चाहती है। न स्वयं कुछ देखना चाहती है, न उसे ही किसी को देखने देती है।

"नैना अन्दर आव तू नैन झांपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूं और कूं ना तोय देखन देऊँ॥

मैं-तू का अंतर मिट जाता है और सब जगह तू ही तू नजर आता है।

तूं तूं करता तूं भया मुझ मे रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई जित देखों तित तूं॥

कबीर ने विरह को आत्मा-परमात्मा के मिलन के लिए आवश्यक बताया है क्योंकि प्रिय का साक्षात्कार हँस-हँस कर नहीं होता। जिन्होंने भी उसे पाया है रो-रो-कर ही पाया है।

हँसि हँसि कंत न पाइया जिनि पाया तिनि रोय,
जो हँसि के खेले हरि मिले तो कौन दुहेली होय॥

इस प्रकार अनुभूति के बाद विरह और फिर मिलन हो जाता है। मिलन होने पर आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है और आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती

है। कबीर ने इस मिलनावस्था को बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त किया है—

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हों राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहो पाँच तत्व बराती।
राम देव मोरे पाहुने आए मैं जोबन मैं माती।
सरिर सरोवर वेदी करिहो ब्रह्मा वेद उचारा।
राम देव संगि भाँवरि लेहहो धनि धनि भाग हमारा॥
सुर तैंतीसो कोटिक आए मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की आत्मा का परमात्म-विषयक प्रेम वियोग की आयासपूर्ण अग्नि में तपकर अंत मे परमात्म-मिलन मे परिवर्तित हो जाता है। कबीर ने आत्मा-परमात्मा के प्रेम, विरह और मिलन सम्बन्धी इस समस्त प्रक्रिया का निरूपण लौकिक प्रतीकों के माध्यम से किया है जिससे इस निरूपण में चमत्कार, मार्मिकता और कुतूहल की सृष्टि हुई है। यही कारण है कि इसे भावात्मक रहस्यवाद का नाम दिया गया है।

साधनामूलक (आध्यात्मिक) रहस्यवाद

कबीर एक निर्गुण पंथी ज्ञानमार्गीय कवि थे। अतः साधनात्मक रहस्यवाद उनके काव्य में सर्वत्र पाया जाता है। इसका सम्बन्ध ज्ञान मूलक प्रक्रिया से है। दर्शन के क्षेत्र में ज्ञान (विचार) का प्राधान्य रहता है परन्तु काव्य मे ज्ञान साधना के क्षेत्र में, ज्ञान (विचार) साधन के रूप मे तथा प्रेम साध्य रूप मे स्वीकार किया जाता है। यहाँ ज्ञान प्रेम का सहायक बनकर प्रेममग्न आत्मा को निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाता है। इसमे (आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध ज्ञान प्रधान होता है।) आत्मा, हठयोग साधना के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करती है जिसमे साधनात्मक प्रतीकों—सूर्य, चन्द्र, गंगा, ओंधा कुँआ, अमृत, नाद, बिंदु आदि का प्रयोग किया जाता है, इसे यौगिक रहस्यवाद भी कहते हैं।

कबीर यह मानते हैं कि आत्मा भी परमात्मा का एक अंश है और उसका परमात्मा से निकट सम्बन्ध है। अत: वे आत्मा-परमात्मा की ज्ञानमूलक व्याख्या करते हैं और जब यह व्याख्या भावमूलक हो जाती है तो वाणी मे एक अटपटापन व विरोध सा प्रतीत होता है जो चमत्कार की सृष्टि करता है। इसके साथ ही साथ वे आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध तथा मिलन का वर्णन ज्ञानात्मक पृष्ठभूमि मे अनेक प्रतीकों द्वारा करते हैं जिससे उनकी उलटवासियाँ बड़ी ही मार्मिक तथा पाठक को कुतूहल में डालने वाली बन गई हैं। साधनात्मक रहस्यवाद की भावनामूलक व्याख्या कठोपनिषद् मे मिलती है। जहाँ इन्द्रियाँ घोड़े, मन लगाम, बुद्धि सारथी, आत्मा सवार है, तथा शरीर रथ। पर यदि स्वामी सो जाय, सारथी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाय, घोड़ों की लगाम ढीली पड़ जाय, तो क्रम उलट जाएगा और स्वामी का स्थान सेवक ले लेगा। इसीलिए ज्ञान के माध्यम से मन और

इन्द्रियों को वश मे रखना चाहिए। यही भावना कबीर की उलटबांसियों में मिलती है कुछ उदाहरण देखिए--

1. एक अचम्भो देख्यो माई।
ठाढ़ो सिंह चरावै गाई।
पहले पूत पीछे भई माई।
चेला के गुरु लागै पाई।
बैलहि डारि गूनि घर आई।
कुत्ता कूं लै गई बिलाई।
जल की मछली तरुवर ब्याई।

2 समुन्दर लागी आगि नदियां जरि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि मछली रुखा चढ़ि गई॥

3. अंतर कँवल प्रकासिया ब्रह्मवास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया जाणेगा जन कोइ॥

इस प्रकार की रहस्यात्मक उलटबांसियों के अर्थ की गहनता की ओर संकेत करते कबीरदास उसका अर्थ समझने की बात कहते हैं। माया का दार्शनिक विवेचन, ब्रह्म विवेचन, आत्मा-परमात्मा की एकता का विवेचन अर्थात् जितना भी आध्यात्मिक विवेचन है, वह साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है।

कबीर ने ज्ञान, माया, अज्ञान, मोह आदि की भावमूलक प्रतीकों द्वारा व्याख्या की है।

संतो भाई आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उडानी माया रहै न बांधी।
हित चित की द्वै थूनि गिरानी मोह बलीड़ा टूटा।
त्रिसना छानि परी घर ऊपरि कुबुधि का भांड़ा फूटा।
जोग जुगति करि संतों बांधी निरचू चुवै न पाणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणी॥

अज्ञान का आवरण हटने पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है और भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, इस तथ्य को कबीर ने छप्पर, आँधी और वर्षा के माध्यम से स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार कबीर ने हठयोग प्रक्रिया के द्वारा भी आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित किया है।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुखमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोले, पंच तत्व गुन तीनी चदरिया।
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक कैबीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ो, ओढ के मैली कीन्ही चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

सुरति निरति के माध्यम से उन्होंने अपनी साधना पद्धति को दर्शाया है --

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब रही न तन की सार।।

कबीर के जितने भी आध्यात्मिक तथा साधनात्मक रहस्यवाद के उदाहरण हैं, उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कबीर के स्व-अनुभूत हैं। उनमे ज्ञान पक्ष के साथ-साथ प्रतीकों के उल्टे हो जाने के कारण भावात्मक चमत्कार और कौतुहल बना रहता है। इस प्रकार उनका साधनात्मक रहस्यवाद नीरसता उत्पन्न करने वाला व उबा देने वाला नहीं है।

प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

कबीर के काव्य में प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। प्रकृतिमूलक रहस्यवाद के अंतर्गत साधक, ईश्वर की छवि समस्त प्रकृति में देखता है। कबीर ने सम्पूर्ण प्रकृति—सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, रजनी, पर्वत, वन आदि में उसी परमात्मा के सौन्दर्य का आभास पाया है। अतः प्रकृति के माध्यम से भी वह ईश्वर की आराधना करते हैं यथा—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास।।

कैसा मनोहारी चित्रण है, जहाँ पानी तथा कमलिनी मे ही परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इस प्रकार कबीर के काव्य मे रहस्यवाद के तीनों ही रूपों का बड़ा सुन्दर, सटीक व प्रभावशाली वर्णन हुआ है। यद्यपि शुक्ल जी ने उनके रहस्यवाद को शुष्क, फीका तथा नीरस कहकर उनकी आलोचना की है, किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनका साधनात्मक रहस्यवाद मात्र शुष्कता लिए नहीं है। उनकी उलटबाँसियो मे अर्थ की गहनता के साथ ही रोचकता भी है, जो पाठक के मन को बाँधे रखती है।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा है कि कबीर का रहस्यवाद जायसी के रहस्यवाद से किसी भी प्रकार कम नहीं है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि जायसी का भावनात्मक रहस्यवाद तो उच्च कोटि का है, किन्तु साधनात्मक रहस्यवाद थिगली जैसा ही दिखाई देता है, जबकि कबीर के रहस्यवाद मे भावनात्मक तथा साधनात्मक रहस्यवाद दूध-पानी की तरह मिले हुए हैं और आटे में नमक की भाँति एक दूसरे का स्वाद भी निहित है। अतः कबीर का स्थान रहस्यवादी कवियों मे सर्वोच्च है।

समाज सुधार (सामाजिक चेतना)

कबीर का प्रादुर्भाव ऐसी विकट परिस्थितियों में हुआ था जबकि राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टियों से समाज में विशृंखलता, उद्वेलन, बाह्याडम्बर, साम्प्रदायिक तनाव, अराजकता, ऊँच-नीच, भेदभाव आदि की स्थिति अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। शताब्दियों से देश पर मुसलमानों का शासन था। हिन्दुओं की राजनैतिक स्वतन्त्रता को ही छीनकर उन लोगों ने संतोष नहीं किया, बल्कि उनका अच्छे वस्त्र पहनना, घोड़े की सवारी करना और यहाँ तक कि हिन्दुओं के घरों के बर्तन तक मुसलमान शासकों की निगाहों में खटकते थे। मामूली सी बात पर खाल खिचवाकर भूसा भर देना, सरेआम चौराहे पर प्राण-दण्ड देना तथा मन्दिर और मूर्तियों को तहस-नहस करा देना साधारण कार्य रह गये थे। आये दिन इस प्रकार की घटनाएँ सुनाई देती रहती थीं। मुसलमान आग और तलवार के बल पर अपने इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे थे। वह धर्म पूर्णरूपेण अनुदार एवं अमानवतावादी सिद्ध हो चुका था। खुदा परस्तों के नाम पर राम परस्तों का खून बहाकर खुदा का नाम ऊँचा किया जा रहा था। न हिन्दुओं की मर्यादा रह गई थी और न सम्मान। बड़ी विडम्बना थी। सोमनाथ आदि के मन्दिर तथा मूर्ति-भजन के साथ ही साथ सगुणोपासना की कमर भी टूट चुकी थी। द्रौपदी और गजेन्द्र की एक ही पुकार पर दौड़ आने वाले 'सगुण ब्रह्म' हाथ पर हाथ धरे अपने कर्म से च्युत, हजारों श्रद्धालुओं का वध होने पर भी न आये। साथ ही हिन्दुओं में भी आपस में ऊँच-नीच, भेदभाव, छुआछूत का बोलबाला था। बाह्याडम्बर के कारण भोली-भाली जनता को लोग भाँति-भाँति से ठगते रहते थे। नाथ तथा सिद्ध हठयोग की साधना द्वारा लोगों को चमत्कार में डाल रहे थे। इन मतों में अनाचार फैल रहा था और साथ ही ये शूद्र से और शूद्रतर होते जा रहे थे। मुसलमानों में कर्म के ऊपर इस प्रकार का कोई भेद नहीं था। इससे भी लोगों की आँखें खुली। उनकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता टूटी और चेतना आई। कर्मकाण्ड से दुखी जनता परेशान थी। आर्थिक रूप से भी जनता तबाह थी। उपज का एक बहुत बड़ा भाग ब्याज के रूप में ही चला जाता था। अकाल, सूखा, महामारी के प्रकोप ने जनता में निराशा का वातावरण पैदा कर दिया था। संस्कृत, पंडितों की भाषा थी। शूद्रों को उसे पढ़ने और उसमें रचना करने का अधिकार ही न था। इसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ, जबकि हिन्दू जनता संकटों, अत्याचारों, भेदभावों तथा परतन्त्रता आदि से तप्त होकर पतन के एक ऐसे कगार पर खड़ी थी कि अंतिम धक्के की राह देख रही थी और दूसरी ओर वह किसी पुष्ट और दृढ़ आधार के सहारे की बाट जोह रही थी। ऐसे ही समय उत्पन्न होकर कबीर ने अपना हाथ बढ़ाया। अपने अनुभव तथा प्रतिभा के बल पर समाज को पतन के गर्त के कगार से हटाकर विकास, आशा, सुख और शान्ति का मार्ग दिखाया। विरोधों को मिटाकर मानवतावाद का नारा लगाया। छुआछूत भेदभाव, बाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड तथा साम्प्रदायिक विरोधों का जोरदार शब्दों में खण्डन किया और दलित तथा पीड़ितों को ऊपर उठने का मंत्र देकर उनको अपने वास्तविक रूप का ज्ञान कराया।" ईश्वर सबका एक है। कर्म ही प्रधान है जो जैसा करेगा वैसा

पावेगा। ऊँच-नीच, भेदभाव सब मनुष्यकृत हैं। ईश्वर के द्वारा कबीर ने समाज में क्रान्ति का आह्वान किया, यही कबीर का समाज-सुधार है।

कबीर ने एक ओर बाह्याडम्बर और संकीर्णता का बड़े ही पुष्ट एवं प्रामाणिक शब्दो मे खण्डन किया। यहाँ कबीर यथार्थवादी थे। दूसरी ओर पतनोन्मुख समाज को जाग्रत किया। इस दृष्टि से वे सुधारवादी थे। इस प्रकार कबीर ने एक ओर खण्डन और दूसरी ओर जागरण तथा विरोधी भावनाओं में समन्वय भी किया। इस प्रकार कबीर कोरे खण्डन कर्त्ता नही थे। वे समन्वयवादी तथा महान् युग-द्रष्टा थे। समाज के भ्रष्टाचार का खण्डन और समाज के उत्थान के लिए सरल तथा व्यवहारोपयोगी सिद्धान्तो का सृजन कबीर ने किया। सगुण के स्थान पर निर्गुण की प्रेमपरक उपासना पद्धति को अपनाया। संक्षेप में कबीर के समाज-सुधार कार्यों का वर्णन इस प्रकार है—

हिन्दू तथा मुसलमानों के बाह्याडम्बरों का विरोध—कबीर को हिन्दुओं तथा मुसलमानो का बाह्याडम्बर तथा आपसी विरोध बड़ा बुरा लगता था। उन्होने दोनों का ही जोरदार शब्दो में खण्डन किया। कबीर का कहना था कि हिन्दू हो या मुसलमान सब एक ही तत्व से बने हैं। दोनो का कर्त्ता एक ही है, पर इन दोनो को राह नही मिली। दोनों अपनी-अपनी बढाई करते हैं, पर एक खाला (मौसी) की बेटी से ब्याह कर अपने घर मे ही सगाई कर लेता है, तो दूसरा वेश्या के पैरो के नीचे सिर झुकाने मे भी लज्जा नही करता। फिर भी दोनों ही अधिक बड़े बनते हैं।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घर में ही करे सगाई।।

चौके की मिट्टी से पवित्र करने और छुआछूत करने का भी उन्होने बड़े ही पुष्ट प्रमाणो से खण्डन किया। ब्राह्मण और शूद्र एक ही मार्ग से आये हैं और तुर्क का खतना भी यहीं हुआ है।

जो तू बामन बंमनी जाया।
तो आन बाट से क्यो नही आया।।
जो तू तुरक तुरकनी जाया।
तो भीतर खतना क्यों न कराया।।

हिन्दू और मुसलमान दोनो ही राम और रहीम को लेकर झगड़ते थे क्योकि—

हिन्दू कहे मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहिमान।
कबीर लड़ि लड़ि दोनों मुये मरम न काहू जाना।।

परन्तु वे यह जानने का प्रयास नही करते थे कि राम और रहीम एक हैं।

इस प्रकार उनकी भर्त्सना करने के बाद कबीर उन दोनो को एक होकर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश देते हैं—

'निर्गुण राम जपहु रे भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।"

इसका प्रभाव यह हुआ कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही कबीर को अपना नेता मानते थे और अब भी उनकी समाधि पर दोनों ही फूल चढ़ाते हैं।

मुसलमानों के रोजा नमाज आदि का विरोध— कबीर को यह अच्छा न लगा कि दिन में तो मुसलमान रोजा (व्रत) रहें और रात में गाय का वध करें। एक ओर खून और दूसरी ओर बंदगी, इससे खुदा कैसे खुश होगा। खुदा तो दया, अहिंसा, परोपकार आदि के मानने वाले से खुशी रहता है।

दिन में रोजा रहत है राति हनत है गाय।
एक खून एक बंदगी कैसे खुशी खुदाय ॥

कबीरदास गो वध के बड़े विरोधी थे और मुसलमानों के गाय का मांस खाने से उन्हें बड़ी घृणा थी। उन्होंने मुसलमानों की इस घृणित पद्धति पर तीव्र आघात किया है। यही नहीं कबीर गाय को माता के समान मानते थे—

लहुरे थके दुहि पीया खीरु,
ताका अहमक भखै सरीरु।
जाका दूध धाय कर पीजै,
ता माता का वध क्यो कीजै ॥

कबीर ने नमाज पर भी आक्षेप किया है—कि क्या खुदा बहरा हो गया है जो कि मुल्ला बांग देते हैं।

कांकर पत्थर जोरकै मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय ॥

हिंसा वृत्ति का भी तीव्र विरोध कबीर ने स्थान-स्थान पर किया है।

बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है, तिनको कौन हवाल ॥

इस प्रकार कबीर ने नमाज, रोजा, मुल्ला, मौलवी, मांस भक्षण आदि सभी प्रकार के पाखण्डों पर ऐसा करारा व्यंग्य किया कि मुसलमान तिलमिला उठे थे।

हिन्दुओं की मूर्ति पूजा आदि का विरोध—हिन्दुओं की मूर्तिपूजा, छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद, सगुणोपासना, भजन-ध्यान, माला फेरना, तीर्थव्रत आदि की निन्दा करके कबीर ने इन बाह्याडम्बरी हिन्दुओं को सजग कर दिया।

मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं—

'मनुआ कैसे बावरे पाथर पूजन जाय।
घर की चक्की कोई न पूजे जाका पिस्या खाय ॥'

'हम भी पाथर पूजते होते बन के रोझ।
मारग मे सतगुरु मिल्या उतरया सिर से बोझ ॥'

पण्डित सिर के केश मुड़ाकर संन्यासी हो जाता है। परन्तु मन को नहीं मूंड़ता जिसमे अनेक विकार भरे पड़े है। कबीर इस पर भी तीव्र व्यंग्य करते हैं—

'केसन कहा बिगारिया जो मूँडे सौ बार।
मन को काहे न मूँडता जामे बड़ा विकार।।'

ब्राह्मण माला फेरना आवश्यक समझते हैं अर्थात् भगवान् का भजन करते हैं। फिर भी उन्हें भगवान् की प्राप्ति नही होती। होगी भी कैसे, मन में तो अनेक विकार भरे हुए हैं। मन चंचल है, लोभ, मोह, काम, क्रोध का उस पर आधिपत्य है फिर माला फेरने से भगवान् थोड़े ही मिल जाएगा। मन को शुद्ध करो, भगवान् स्वयमेव अवतरित हो जाएँगे।

माला फेरत जुग भया गया न मनका फेर।
करका मनका डार दे मनका मनका फेर।।

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआ तो चहुँ दिस फिरै यह तो सुमरिन नाँहि।।

कबीर ने जात-पाँत का भारी विरोध किया है। कबीर स्वयं जुलाहा थे। किन्तु ज्ञान में ब्राह्मणों से बढ़कर थे। अतः मनुष्य ज्ञान से बड़ा होता है, जाति से नही।

'तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा, बूझ न मोर गियाना'

मनुष्य दूर-दूर तक मन्दिरों में, काशी, मथुरा और द्वारिका में भगवान् को ढूंढने जाता है। कबीरदास ऐसे लोगो को सचेत करते हुए कहते है—

मन मथुरा तन द्वारिका काया कासी जानि।
दसवाँ द्वारा देहुरा तामे जोति पिछानि।।

वहाँ न तो देवालय होते है और न तुर्कों की मस्जिद।

ना वहाँ देवल देहड़ी ना वहाँ तुरक मसीति।

इसी प्रकार बहुदेववाद का भी खण्डन कबीर ने किया है। कोई राम को पूजता है तो कोई कृष्ण को। कोई शक्ति को पूजता है तो कोई ब्रह्म को पूजता है। इससे हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता बढ़ गई थी और वे एक-दूसरे के धर्म पर प्रहार करते रहते थे। इसी-लिए कबीर ने कहा कि तुम एक ही ईश्वर 'निर्गुण राम' को भजो क्योकि उसकी पूजा तो स्वयं ब्रह्मा जी भी करते हैं—

एक जनम के कारणे कत पूजो देव सहेसो रे।
काहे न पूजो राम को जाके भक्त महेसो रे।।

एकेश्वरवाद की स्थापना करते हुए कबीर कहते हैं—

अक्षयवट एक पेड़ है निरजन ता की डार।
त्रिदेवा साखा भये पात भया संसार।।

इस प्रकार हिन्दुओं में बहुदेववाद मूर्तिपूजा आदि का खण्डन कबीर ने किया और छुआछूत, ऊँचनीच के विचारों को मिथ्या बताकर सबको एक ही पिता की सन्तान बताया। हिन्दुओं को बाह्याडम्बर को छोड़ने को बाध्य करना, अछूतों को आगे बढ़ाना और एक ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना आदि का शंख फूंकने का श्रेय कबीर को ही है। इसी का परिणाम है कि पलटू, सहजो, नामदेव, दादू, रैदास, पीपा, मलूकदास आदि निम्न वर्ग, के लोग संत बनकर काव्य के क्षेत्र मे आये और अपनी अनुभूति तथा कर्म की ○ से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि संसार में ऊँच-नीच का भेद बनावटी है।

तुम कतबाँभन हम कतसूद ।
हमरे लहू कि तुम्हरे दूध ।

शाक्तों की निंदा तथा वैष्णवों की प्रशंसा—शाक्तों के द्वारा उस समय समाज में व्यभिचार और पापाचार फैल रहा था। वे अपने चमत्कार आदि के बल पर राम-शक्ति तक पर अपना प्रभुत्व जमाये थे। इसलिए उनके आतंक और आडम्बर से समाज में बड़ा अनाचार व्याप्त था। इसीलिए कबीर ने शाक्तों की निर्भीकता पूर्वक स्पष्ट रूप से निन्दा की। कबीर के द्वारा शाक्तो की निंदा और वैष्णवों की प्रशंसा का मुख्य कारण यह है कि शाक्त चंडी आदि के बहाने से मांस-मदिरा का सेवन करते थे जिससे समाज में अनाचार फैलता था। इसके विपरीत वैष्णव पूर्ण अहिंसावादी और मांस-मदिरा के सेवन के विरोधी थे। यही समाज के लिए हितकर था। कबीर ने वैष्णवो के परोपकार अहिंसा तथा सदाचार के कारण उनकी प्रशंसा की है और वैष्णव की छपरी को भी शाक्तों के गाँव से अच्छा माना है।

वैश्नो की छपरी भली नहिं साकत का बड़ गाउँ।

शाक्तो को कबीर ने चाण्डाल से भी बुरा माना है। उन्होंने कहा है—

सासत बांमन मति मिलै वैष्णो मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये मानो मिले गुपाल॥

कबीर ने शाक्तो को लहसुन की उस खान के समान बताया है जिसे कोने में बैठकर खाने से भी बदबू प्रकट हो जाती है।

कबीर साकत ऐसी है जैसी लहसुन की खानि।
कौने बैठे खाइए परगट होइ निदान॥

इसीलिए शाक्तो के संग कभी भी नहीं बैठना चाहिए। उनसे हमेशा दूर रहना चाहिए।

साकत संग न कीजिए दूरहि जड़िये भागि।
बासन कारो परसिये तउ कछु लागे दाग॥

इस प्रकार कबीर ने समाज में व्याप्त अनाचार, पापाचार तथा बाह्याडम्बरों के प्रति कटूक्तियाँ कहकर मनुष्य जाति को उनसे दूर होने की प्रेरणा दी है। कबीर ने उन लोगों की निंदा की है जो दूसरे के दोषों को देखकर हँसते हुए चलते हैं, किन्तु अपने चित्त को नहीं देखते जिसका न आदि है, न अन्त।

दोष पराए देख करि चला हसंत हसंत।
अपने चित्त न आवही जाको आदि न अन्त॥

कबीर ने सत्संगति की महिमा और कुसंग की निंदा भी की है—

मारी मरैं कुसंग की केरा के ढिंग बेरि।
वो हालै के चीरिये साषित संग निबेरि॥

उस समय के समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे अनाचार की ओर प्रवृत्त हो रही थी। कबीर ने ऐसी कुलटा स्त्रियों की भी निंदा की है।

नारि कहावै पीयु की रहै और संग सोइ ।
जार सदा मन मे बसै खसम खुसी क्यों होय ॥.

ऐसी स्त्री को तो देखते ही सर्प अंधा हो जाता है, बेचारे उन व्यक्तियों की क्या दशा होगी जो नित्य स्त्री के साथ रहते हैं ।

नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग ।
कबिरा तिनकी कोन गति जो नित नारी के संग ॥

कबीर ने पोथे ज्ञान के स्थान पर व्यावहारिक ज्ञान को महत्ता दी है। कबीर ने कहा है कि पोथी पढ़ के कोई पंडित नहीं होता। जो प्रेम से राम का नाम स्मरण करता है वही विद्वान् है ।

पोथी पढ़ि-पढ़ि जुग मुआ पंडित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय ॥

कबीर ने समाज में रहकर समाज का बड़े समीप से निरीक्षण किया। समाज में फैले बाह्याडम्बर, भेदभाव साम्प्रदायिकता आदि का उन्होंने पुष्ट प्रमाण लेकर ऐसा दृढ़ विरोध किया कि किसी की हिम्मत नहीं हुई जो उनके अकाट्य तर्कों को काट सके। कबीर का व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उनके सामने टिक सकने की हिम्मत किसी में नहीं थी। इस प्रकार उन्होंने समाज तथा धर्म की बुराइयों को निकाल-निकाल कर सबके सामने रखा। ऊँचा नाम रखकर संसार को ठगने वालों के नकली चेहरों को सबको दिखाया और दीन-दलितों को ऊपर उठने का उपदेश देकर अपने व्यक्तित्व को सुधारकर सबके सामने एक महान् आदर्श प्रस्तुत कर सिद्धान्तों का निरूपण किया। कर्म, सेवा, अहिंसा तथा निर्गुण मार्ग का प्रसार किया। कर्मकाण्ड तथा मूर्तिपूजा का विरोध किया। अपनी साखियों, रमैनी तथा शब्दों को बोलचाल की भाषा में रखकर सबके सामने एक विशाल ज्ञान मार्ग खोला। इस प्रकार कबीर ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया और कथनी-करनी पर बल दिया। वे महान् युगदृष्टा, समाज-सुधारक तथा महान् कवि थे, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम के बीच समन्वय की धारा प्रवाहित कर दोनों को ही शीतलता प्रदान की। कबीर की [illegible] मार्मिक उक्तियां आज भी जन-जन के मन में रमी हुई है। इन उक्तियों से [illegible] भी प्रेरणा प्राप्त कर रहा है। भारतीय समाज में उस समय धर्मान्धता और [illegible] का बोलबाला था। समाज से ढोंग को मिटाने, ढोंगियों का पर्दाफाश [illegible] समस्याओं को हल करने, उन्हें समाज में समान अधिकार दिलाने, [illegible] में साम्य लाने तथा कर्म को ही ध्यान मानकर सत्य के मार्ग [illegible] के लिए कबीर की उक्तियां रामबाण औषध सिद्ध हुई है। यहां [illegible] उक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

1. कुकड़ी मारै बकरी मारै हक हक [illegible] ।
सबै जीव साईं के प्यारे, उबरहुगे [illegible] ॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां, [illegible] न जाना ।
कहै कबीर भिसति छिटकाई, दोजख [illegible] मन माना ॥

2. काया मांजत कौन गुना, [illegible] ॥

3. पंडित बाद बदन्ते झूठा'

राम कह्यां दुनियां गति पावै, खांड कह्यां मुख मीठा।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूख जे भाजै, तो सब कोइ तिरि जाई।।

4. लौकी अठसठ तीरथ न्हाई। कौरापन तऊ न जाई।।

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि कबीरदास सच्चे महात्मा, ज्ञानी कर्मठ, समाज सुधारक, बुराइयों का विरोध करने वाले, स्पष्टवादी, निर्भीक त्यागी, तपस्वी, सदाचारी, परोपकारी, दयालु और कर्मठ सन्त थे। उन्होंने अपना जीवन बहुजन, हिताय, 'बहुजन रताय' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनं' 'सर्वे सन्तु निरामया' के महान् सिद्धान्तों की पूर्ति मे लगा दिया। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर युग स्रष्टा और युग पुरुष थे। यही कारण है कि हिन्दू और मुसलमान उन्हें समान रूप से अपना मसीहा मानते हैं। कबीरदास जुलाहा थे। वे एक मुसलमान दम्पत्ति के यहाँ पले थे, परन्तु उनमें संस्कार एक ब्राह्मण के ही थे। दूसरे शब्दों में लोग उन्हें 'जन्मना शूद्र' समझते थे, परन्तु वे 'कर्मणा ब्राह्मण' थे। यद्यपि उनके संस्कार भी नही हुए थे, न उन्होंने विद्या ही पढ़ी थी, परन्तु वे "ब्रह्मं य जानाति स ब्राह्मणः" की उक्ति का ज्वलंत प्रमाण थे। यही कारण है कि महात्मा कबीर दास ने दुराचार और दुराचारी पर तीक्ष्ण व्यंग्य करके सदाचार और सदाचारी की प्रशंसा द्वारा समाज को सुधारने का स्तुत्य प्रयास किया। अतः कबीरदास एक सच्चे समाज सुधारक थे।

कबीरदास की सामाजिक चेतना आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी कबीर के समय थी, क्योंकि आज भी हिन्दू और मुसलमानों मे साम्प्रदायिक विद्वेष व्याप्त है। वे आपस मे अब भी लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इन दोनों को अब भी कोई समता की राह नहीं मिली है। साथ ही इन दोनों समुदायों मे अब भी बाह्याडम्बर का बोलबाला है। मुल्लाओं का धार्मिक कट्टरपन अब भी विघटन का वायस बना हुआ है। हिन्दुओं में छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना अब भी जोरों पर है। ब्राह्मणादि उच्च वर्ण अपने आचार से गिर गये हैं। अतः इन सभी बुराइयों को दूर करने के लिए कबीरदास के विचार आज भी पूर्णतया अनुकरणीय हैं और उनकी प्रासंगिकता आज भी पूर्ववत् उपादेय है क्योंकि कबीरदास की सामाजिक चेतना सार्वभौम और सर्वग्राह्य है।

संत, दार्शनिक और कवि

कबीरदास न तो दार्शनिक न थे और न कवि उनके सम्बन्ध में यह तथ्य सर्वविदित है कि कबीरदास मूल रूप में संत, ज्ञानी और धर्मसुधारक थे। कविता करना उनका प्रधान कार्य नहीं था। उनका उद्देश्य तो समाज में फैली हुई धर्म और आचार मूलक विषमताओं से उत्पन्न घृणित और दुर्गन्ध पूर्ण स्थिति की वास्तविकता का ज्ञान कराकर, समाज को सदाचार, ज्ञान, भक्ति और मुक्ति का सही मार्ग दिखाना था। यहाँ यह कहना भी असंगत न होगा कि कबीरदास अपने इस कार्य में पूर्णतया सफल हुए हैं। उन्होंने 'आत्मवत सर्वभूतेषु', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'अहिंसापरमो धर्म', 'सत्यमेव जयते', आदि का जो नारा बुलंद किया था उसके अनहद में पण्डितों का पोथीमूलक थोथा ज्ञान और मुल्लाओं का हिंसा पर आधारित कोरा धर्माभिमान निष्पंद हो गया था। साथ ही जन सामान्य ने यह समझ लिया था कि धर्म का आधार न तो क्रिया-कर्म सम्बन्धी दिखावा है और न अनाचार पर आधारित उपासना। धर्म का मूल रूप दया है। बिना दया के संत को भी संत नहीं कहा जा सकता। वह तो कसाई है। हिन्दू और मुसलमान का भेद असत्य है और मानव कृत है। ईश्वर और खुदा, राम और रहीम, अल्लाह और ओंकार एक ही हैं। यही आत्मा का विराट् रूप है और सभी का स्वामी। अत. ईश्वर की दृष्टि में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। न कोई ब्राह्मण है और न शूद्र। न कोई हिन्दू है और न मुसलमान। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। वह घट-घट में व्याप्त है। वह न मंदिर में है न मसजिद में। न काबे में है न कैलाश में। न तीर्थ में है न व्रत में। न रोजा में है न नमाज में। वह कहाँ है, इसे वही जान सकता है, जिसने हर घट में विराजमान शक्ति स्वरूपिणी और ईश्वर की अंश धारिणी आत्मा को पहचान लिया है। कबीर के मतानुसार ईश्वर-पूजा, जप-तप सब कुछ शरीर में ही स्थित हैं। इसी की साधना करो, तभी मुक्ति मिलेगी, आदि आदि।

यह तथ्य भी स्पष्ट है कि कबीर के काव्य का जन-सामान्य में प्रचार होता चला जा रहा है। कबीर की कविता को समाज इसलिए नहीं पढता कि उसमें उच्च कोटि के काव्य-तत्व विद्यमान हैं, बल्कि इसलिए पढ़ता और सुनता है कि उनके गीतों से समाज को नीति, उपदेश और प्रेरणा प्राप्त होती है। यदि हम कबीर के काव्य को 'कबीर की वाणी' के नाम से सम्बोधित करें तब भी उनकी कविता पर कोई आँच नहीं आती। क्योंकि कबीर की वाणी, चाहे वह कविता में हो, चाहे गद्य में। अपनी स्पष्ट विचारात्मकता, भावात्मकता तथा प्रेरणादायकता के कारण ही सर्वग्राह्य है। कबीर धर्म, कर्म, आचरण, साधना और उपासना सभी ओर से संत थे, ज्ञानी थे और समाज सुधारक थे। एक सच्चे संत, ज्ञानी और लोकनायक के लक्षणों का निरूपण महात्मा तुलसीदास ने इस प्रकार किया है—

तुलसी संत सु अंबुतरु फूल फलहिं परहेत।
इतते ये पाहन हनैं उतते वे फल देत।

महात्मा कबीरदास ऐसे ही परोपकारी संत थे। यद्यपि उन्होंने जो कुछ कहा वह 'स्वान्त सुखाय' ही था और वह 'परान्त: सुखाय' केवल उन्हीं लोगों के लिए था जो दीन-

हीन, शोषित अशक्त, और अपमानित थे। उच्चासन पर विराजमान, जात-पांत और अधिकार के दम्भ से युक्त समाज ने कबीर की वाणी का भारी विरोध किया था और इसके लिए उन्हे कठोर यातनाएँ भी दी गई थी। महात्मा कबीरदास ने इन सभी चुनौतियों का साहस के साथ सामना किया था। वे बड़े ही निर्भीक, स्पष्ट और सरल चित्त वाले संत थे। *महात्मा तुलसीदास ने भी ये सभी गुण एक सच्चे संत में बताये हैं।*

'भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु।'

अतः महात्मा कबीरदास समाज के लिए अमृत के समान जीवन-दायक सिद्ध हुए। उनके हृदय में सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, वैराग्य, सदाचार, संयम, परोपकार आदि उदात्त मानवीय गुण विद्यमान थे। वे फकीर थे, फक्कड़ थे परन्तु मन के नही तन के। उनका मन तो कुबेर से भी अधिक धनी था। वे अछूत समझे जाते हुए भी ब्रह्म ज्ञानी थे। सभी पण्डित और ज्ञानी कागद की लेखी कहते थे, जबकि कबीर आँखों की देखी कहते थे।

'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।'

अतः कबीर का सब कुछ 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन रताय' ही था। वे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु की महान प्रज्ञा से अभिभूषित थे। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' उनका मूल मन्त्र था। इसी लिये उन्होंने हिन्दू और तुर्क (मुसलमान), छोटे और बड़े, ऊँच और नीच सबको एक ही मंत्र जपने का उपदेश दिया और कहा—'

'निर्गुन राम जपहु रे भाई।
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई।'

तथा

'बीज मध्ये ज्यो वृक्षा दरसे वृक्षा मध्ये छाया।
परमातम मे आतम दरसे आतम मध्ये माया।।'

इन्ही सब लोककल्याणकारी तत्वो को लेकर महात्मा कबीरदास ने बड़ी निर्भीकता और स्पष्टता के साथ सभी को सत्य, अहिंसा, त्याग, तप, वैराग्य, संयम और सदाचार के ग्रहण का उपदेश देते हुए असत्य, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, पाप, पाखण्ड आदि अमानवीय भावो को त्यागने का कदम-कदम पर आदेश दिया है। कबीर की वाणी मे सूर्य की किरणों की चमक और तलवार की धार की वह तीक्ष्णता है जिससे अज्ञान के अंधकार मे भटके हुए समाज को ज्ञान का प्रकाश मिला और ढोंगी तथा दम्भी समाज का दम्भ आहत होकर परास्त हुआ। कबीर के काव्य मे उपलब्ध इन सभी तत्वो से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि मूल रूप मे तो कबीर सत, ज्ञानी और समाज सुधारक ही थे।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना और आवश्यक है कि कबीर गृहस्थ नही थे और उनके कोई पत्नी और पुत्र न थे। *उनको गृहस्थ मानने का विचार पूर्णतया भ्रामक है क्योंकि* संत अविवाहित और विरक्त होता है। वह सयमी और त्यागी होता है। कबीर के काव्य मे कुछ ऐसे सकेत मिलते हैं, जिससे लोगों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'लोई' उनकी पत्नी थी और 'कमाल' उनका पुत्र। इन उदाहरणो को देखिए—

"कहत कबीर सुनो रे लोई, हरि बिनु राखन हारन कोई।

यहाँ लोई शब्द का प्रयोग किसी लोई नाम की स्त्री के लिए नही हुआ है क्योंकि लोई नाम किसी भी स्त्री का नही मिलता। लोई शब्द का प्रयोग काशी और उसके आस-पास 'लोगो' के अर्थ मे प्रचलित था। इसका प्रयोग नाथ पंथियो ने भी किया है। वहाँ भी इसका अर्थ 'लोगों' ही निकलता है। इस आधार पर कबीर की इस पंक्ति का अर्थ हुआ— 'कबीरदास कहते है कि अरे लोगो सुनो! बिना भगवान् के कोई दूसरा रक्षा करने वाला नही है।'

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

'बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छांड़ि के, घर ले आया माल।।'

यह तो सभी जानते हैं कि कबीर जुलाहा थे और वे कपड़ा बुनते थे। अतः उन्होंने कुछ दिन माल खरीदने और बेचने का काम भी किया था। यह काम उन्होंने तभी तक किया जब तक उनके मन में मोह बना रहा। यही मोह कबीर का पूत कमाल है। जिसका उल्लेख उन्होने रूपकात्मक प्रतीक के रूप में किया है। जब उन्होंने देखा कि जब तक इस मोह रूपी पुत्र कमाल का त्याग नही करूँगा, तब तक ईश्वर के भजन में मेरा मन एकाग्र होकर नही रमेगा। इसलिए उन्होंने इस पद मे पूत कमाल शब्द का उल्लेख किया है। कबीर के गृहस्थ होने के सम्बन्ध में एक उदाहरण और द्रष्टव्य है—

"नारी तो हमहूँ करी, जाना नही विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार।।"

यहाँ भी कबीर का दृष्टिकोण किसी महिला से विवाह करना नही लगता। वे नारी के रूप मे माया को मानते थे और माया उनके लिए बहुत बड़ा विकार थी। वह विष्णु के घर लक्ष्मी, ब्रह्मा के घर सरस्वती और शंकर के घर मे पार्वती बनकर बैठी है, ऐसा कबीर समझते थे। अतः उन्होंने नारी के प्रति अपने मन के आकर्षण पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया था। कबीर की उक्तियों में यही सब भाव लाक्षणिक और अन्योक्ति मूलक प्रतीको के द्वारा अभिव्यक्त हुए है। अतः यह कहना असंगत न होगा कि कबीर, संत, विरक्त और, ज्ञानी थे।

संत कबीरदास हिन्दी साहित्य के युग में एक ऐसे युगद्रष्टा और लोकनायक थे जिन्होने उस समय की बढ़ती साम्प्रदायिकता को सरल तर्कपूर्ण और स्वाभाविक उक्तियों के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर कर राष्ट्रीय एकता का मंत्र फूंका था। उन्होंने पतन के गर्त में गिरती हिन्दू जनता का पथ आलोकित किया था। कबीर ने अपने साहित्य से समाज मे जागृति का शंखनाद किया था। इसका कारण यह है कि कबीरदास ज्ञानी के साथ ही साथ उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा के भी धनी थे। ज्ञान और प्रतिभा दोनो ही उन्हे संस्कार रूप में प्राप्त हुई थी। अतः ज्ञान के प्रसारण के लिए कबीरदास को काव्य रचना का एक उत्तम साधन प्राप्त हो गया था। परन्तु कबीरदास की उत्कृष्टतम प्रतिभा के कारण उनके काव्य मे कविता के उदात्त तत्वों जैसे—रस, भाव और ध्वनि, भाषा का साहित्यिक रूप, उपयोगी उपमान योजना तथा उदात्ततम गीति-शैली का पूर्ण समावेश भी उपलब्ध

होता है, जिससे साहित्य प्रेमियों को रसास्वादन का साधन भी कबीर की कविता में सहज ही प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कबीरदास की प्रसिद्धि का कारण उनकी सरस, सजीव, मधुर ओजपूर्ण शक्तिशाली तथा प्रभावशाली कविता ही है। यद्यपि कबीर दास पढ़े लिखे नहीं थे :

'मसि कागद छुआ नहीं, कलम गही नही हाथ।'

परन्तु उनमें आशु कवि के सभी गुण विद्यमान दिखाई देते है। उन्होंने कविता लिखने के उद्देश्य से कुछ नहीं लिखा। न उन्हें अलकारों का ज्ञान था और न छंदों का, फिर भी उनकी कविता में छद और अलंकार का उचित उपयोग देखने को मिलता है। उनमे जन्म-जात कवि-कर्म की शक्ति थी। वे प्रतिभावान् कवि थे जिन्हे कुछ अर्जित करने की जरूरत ही नही पड़ी। प्रकृति ने अनजाने ही उन्हे सब कुछ दान में दे दिया था। उनके मुख से निःसृत उपदेशों को उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध किया। खोज रिपोर्टों, सदर्भ ग्रंथों और पुस्तकालयों के विवरणों मे उनके तिरेसठ ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अगाध मंगल, अनुराग सागर, अमरमूल, अक्षर खण्ड की रमैनी, अक्षर भेद की रमैनी, उग्रगीता, कबीर की बानी, कबीर गोरख की गोष्ठी, कबीर की साखी, बीजक, ब्रह्म निरूपण, मुहम्मद बोध, विवेक सागर, शब्दावली, हंस-मुक्तावली, ज्ञानसागर आदि उनके प्रसिद्ध संग्रह हैं। किन्तु इनमे से कबीर की साखी, सबद और रमैनियां ही अधिक प्रसिद्ध हैं। जो बाबू श्याम सुन्दरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' में संग्रहीत हैं। कबीर का काव्य मुक्तक के अन्तर्गत आता है। जिसमें ज्ञान, भक्ति, नीति, शिक्षा, उपदेश सभी से सम्बन्धित साखी, पद, रमैनी, मिलती हैं। कबीर का साहित्य बहुआयामी है। वे किसी एक क्षेत्र को लेकर आगे नही बढ़े। उनकी दृष्टि चारों दिशाओ मे घूमी और चारों ही दिशाओ से सम्बन्धित उक्तियाँ उन्होंने अपने काव्य में वर्णित की। इस तरह कबीरदास एक महान् व प्रतिभा-शाली कवि भी थे। उनके सम्बन्ध में यह युक्ति पूर्णतया सटीक परिलक्षित होती है।

यत्सारस्वतवैभवं गुरु कृपा पीयूषपाकोद्भवं।
तल्लभ्यं कवि नैव नैव हठतः पाठ प्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पङ्किल।
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभ.।।

अर्थात् सरस्वती का अमर वैभव जो काव्य प्रतिभा है उसे तो गुरु की कृपा रूपी अमृत के प्रभाव से कोई विरला ही कवि प्राप्त कर सकता है। उसे हठपूर्वक पाठ की प्रतिष्ठा अर्थात् काव्य रचना करने वाला सामान्य व्यक्ति प्राप्त नही कर सकता। जैसे दिनभर तालाब में पड़ा रहने वाला भैंसा अपने खुरों से चाहे तालाब के पानी को गंदा करता रहे, परन्तु तालाब मे विकसित कमल पुष्पों की सुगन्ध को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस उक्ति मे उत्कृष्ट कवि के जो लक्षण बताये गए हैं, वे सभी हमें कबीरदास मे परिलक्षित होते हैं। कबीरदास की अमरवाणी और काव्य कला का विस्तृत परिचय पृथक्-पृथक् दिया जा चुका है। जिससे यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास एक महान् संत, ज्ञानी, योगी और समाज सुधारक होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी काव्य रचना—विषय, भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियो से उत्कृष्टतम कोटि की है और हिन्दी ही नही बल्कि अन्य भाषाओ की किसी भी उत्कृष्टतम काव्य-रचना के समकक्ष रखकर यदि कबीर के काव्य को तोला जाय तो वह हरुवा नहीं गरुवा ही सिद्ध होगा, क्योंकि कबीर ने अपना काव्य धर्म और मोक्ष की अमर साधना के लिए लिखा था। केवल कविता करना मात्र ही उनका काम नही था। वे दार्शनिक सिद्धांतों के निरूपक भी नही थे। वे तो केवल सन्त-ज्ञानी और समाज सुधारक थे।

साधना पद्धति

कबीर निर्गुणवादी संत थे। अत: उनकी साधना पद्धति में ज्ञान और भक्ति दोनों का ही समन्वित रूप मिलता है। वे ज्ञान और भक्ति दोनो का ही समर्थन करते हैं क्योंकि ज्ञान और भक्ति दोनों कबीर की दृष्टि मे साधनारूपी रथ के दो पहिए हैं। इनमे से एक के बिना साधनारूपी रथ नही चल सकता। वह बीच मे ही टूट जाएगा और मुक्ताश्रम तक नही पहुँच पाएगा। इसी आधार पर कबीर की साधना पद्धति का निरूपण किया जाता है—

ज्ञान-साधना—कबीर की साधना-पद्धति का मूल आधार योग है। पतंजलि के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आधार पर ही कबीर, योग के मार्ग पर चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अत: इनकी उपासना पद्धति मे मन को नियंत्रण में रखना, माया और उसके सहयोगियों से बचना, योग के आठ अगो की साधना करना, त्याग, तप और वैराग्य धारण करना, गुरु की महत्ता प्रदर्शित करना आदि सम्मिलित हैं। सामान्य रूप से कबीर की साधना-पद्धति मे सिद्धो की सहज भावना, जिसे कबीर ने 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' के आधार पर आत्मा-परमात्मा के प्रेम सम्बन्ध के रूप मे देखा है, नाथपंथियों की योग साधना, गुरु की महिमा आदि और अद्वैतवादियो की माया विरोधी धारणा को ही प्रश्रय मिला है, जिसे कबीर ने अपने व्यावहारिक और उद्देश्यमूलक ढाँचे मे डालकर व्यक्त किया है।

कबीर की ज्ञान साधना के अंतर्गत हम यहाँ पर उपास्य का स्वरूप, चित्तवृत्ति निरोध, माया का विरोध, हठयोग साधना तथा गुरु की महत्ता आदि का वर्णन करेंगे।

उपास्य का स्वरूप

मूल रूप मे तो कबीर आत्मवादी थे और उनकी साधना भी आत्मसाधना के ही अन्तर्गत आती है, क्योंकि हठयोग के साथही साथ संयम, सदाचार, वैराग्य, तप, आदि सभी उपायों से वे मन और बुद्धि के प्रभावों को मिटाकर आत्मरूप को प्राप्त करने का ही उपदेश देते हैं। कबीर की दृष्टि मे यही आत्मा उनका उपास्य है। यह आत्मा परमात्मा का ही अंश है, जो समुद्र में बूँद की भाँति मिली हुई है। वे वेदांत के—'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, ब्रह्म-जीवैनापरः' के आधार पर माया को असत् मानते हुए ब्रह्म और आत्मा को ही सत् मानते हैं। अतः *ब्रह्म-साधना के लिए आत्म-साधना परम आवश्यक है। यदि आत्म-ज्ञान* हो गया तो ब्रह्म ज्ञान स्वत. ही हो जायेगा। फिर आत्मा-परमात्मा एकाकार हो जायेंगे। इसीलिए वे इस तथ्य पर बल देते हुए कहते है—

1. जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
   फूटा कुम्भ जल जलहि मिलाना, यह तथ कथोगियानी॥
2. पानी ही ते हिम भया, हिम है गया बिलाइ।
   जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ॥

इससे सिद्ध होता है कि कबीर ने उपास्य के रूप में प्रथमत: तो आत्मा को ही स्वीकार किया है। आत्मज्ञान हो जाने पर एक ही परमात्म तत्व शेष रह जाता है जो

हिन्दू, मुसलमान सभी का उपास्य है। उसके नाम पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु रूप एक है। वह निर्गुण है। निरंजन है। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—

हमारे राम रहीम करीमा,
कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै,
और न दूजा कोई॥

कबीरदास निर्गुण साधक और निर्गुण भक्त थे। वे सगुण अवतारवाद को अस्वीकार करते हैं। यद्यपि वे अपने इष्ट को 'राम' शब्द से सम्बोधित करते हैं, परन्तु यह राम कौन है ? इसे निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है—

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै, ता गति लखी न जाई॥
ना दशरथ घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै लै गोद खेलावा॥
ना वो ग्वालन के संग फिरिया। गोवरधन ले ना कर धरिया।
बावन होय नही बलि छलिया। धरनी वेद लेन ऊधरिया॥
गंडक सालिगराम न कोला। मच्छ कच्छ ह्वैजलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यान नहिं लावा। परसराम ह्वै खत्री न सतावा॥
द्वारामती सरीर ना छाड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।
कहै कबीर विचारि करि, ये ऊले व्यवहार।
याही थें जे अगम है। सो वरति रह्या संसार॥

यद्यपि कबीर ने अपने उपास्य के लिए राम, गोविन्द, हरि, अल्लाह, रहीम, करीम आदि सभी प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु इन सबके मूल में वे निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। वह ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। निरंजन है। तीनों देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि उसी के अंश हैं और सारे संसार में आत्मा के रूप में उसी का स्वरूप दिखाई देता है।

अक्षयवट एक पेड़ है, निरजन ता की डार।
त्रिदेवा साखा भये, पात भया संसार॥

इससे सिद्ध होता है कि कबीरदास निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं। वे उसी के अंशरूप घट-घट मे व्याप्त आत्मा को भजते हैं। उनकी उपास्य मन्दिर में विराजमान पत्थर की मूर्तियाँ नहीं हैं। वे सहस्रो देवों को पूजने के पक्षपाती नहीं है। क्योंकि वे निर्जीव और जड़ है।

1. एक जनम के कारणे क्यों पूजो देव सहेसो रे।
काहे न पूजो राम को जिनके भगत महेसो रे।
2. कस्तूरी कुण्डल बसैं, मृग ढूँढै वन माँहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखै नाँहि॥

3. मोको कहाँ ढूँढ़े रे बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मंदिर में ना मस्जिद मे ना काबा कैलास मे ॥

4. दुनिया ऐसी बावरी पाथर पूजन जाय।
घर की चक्की कोई न पूजै जाका पीसा खाय ॥

5. हमहूं पाथर पूजते, जो होते बन के रोझ।
आगे से सतगुरु मिल्या, उतरया सिर से बोझ।

6. पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
याते तो चक्की भली, पीस खाय संसार ॥

इन सभी उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपास्य के सम्बन्ध में कबीर का दृष्टिकोण बड़ा ही स्पष्ट था। वे संत थे, ज्ञानी थे, आत्मवादी थे। अतः उनका उपास्य, निर्गुण राम और उसी का अंश रूप शरीरस्थ आत्मा थी, जो घट घट मे व्याप्त है। इसी आत्मरूप का विकास करना ही सच्ची साधना है और आत्मज्ञान ही वास्तविक मुक्ति है। उपास्य का यही रूप उनकी साधना में सर्वत्र देखा जा सकता है।

चित्तवृत्तिनिरोध—साधना के लिए आत्म-संयम का होना अनिवार्य है। पंतजलि ने तो 'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' कहकर इसकी सार्थकता को स्वीकारा है। मन बड़ा चंचल है। मन विषयों की ओर बड़ी तेजी से आकर्षित होता है। अतः मन पर संयम रखना ही सबसे बड़ी साधना है। कबीर योगी थे, संत थे। अतः मन को वश मे रखना वे जानते थे और साधना के लिए मन को वश मे रखने का आदेश भी देते थे।

कबीर कहते हैं कि मन के अनुसार कार्य नही करना चाहिए, क्योंकि मन विषयों के आकर्षण की ओर सत्वर दौडता है, जिससे साधक ध्यानावास्थिति नही हो सकता।

मन के मते न चालिये, छांड़ि जीव की बांणि।
ताकूं केरे सूत ज्यूं उलटि अपूंणा आंणि ॥

मन को भगवान् की शरण मे लगाने का प्रयत्न किया लेकिन वह तो अपनी टेक के कारण ऊपर ही से माया के फंदे मे गिर पड़ा।

कबीर मन पंछी भया, बहु तक चढ्या अकास।
ऊपर ही तैं गिर पड्या, मन, माया के पास ॥

इसीलिए मन को बांध कर रखना चाहिए।

मैंमता मन मारि के, नान्हां करि करि पीस।
तब सुख पावैं सुंदरी, ब्रह्म झलक्कै सीस ॥

मन से समस्त चिन्ताओ को दूर कर, समस्त इन्द्रिय-भोग को मिटाकर ही ईश्वर को पाया जा सकता है।

चिन्ता चित्त निवारिये, फिर बूझिए न कोइ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोइ ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास ने मन पर नियंत्रण रखने का भी मूल्यवान् उपदेश दिया है।

माया का विरोध—आत्म-साधना के लिए माया के अस्तित्व को जानना व उससे दूर रहना परम आवश्यक है। माया बड़ी आकर्षक होती है। संक्षेप में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों का समन्वित रूप ही माया है। ये विकार यद्यपि बड़े आकर्षक लगते हैं, परन्तु इनका परिणाम बड़ा भयानक होता है। ये मन को धोखे में डालकर संकट में फंसाते हैं और पाप कर्मों में प्रवृत्त करते हुए उसे आत्म-रूप से दूर ले जाते हैं, जिससे मनुष्य सांसारिक धंधों में फसा रहता है और मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए कबीर ने माया को डायन कहा है और विकारों को उसके पंचमहाबलिष्ठ पुत्र।

इक डाइन मेरे मन बसै, नित उठि मेरे मन को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच, निसि दिन मोहि नचावै नाच ॥

कबीरदास ने माया को ठगनी कहा है। यह त्रिगुणात्मिका है। यह अनेक रूपों मे से एक स्त्री के रूप में भी दिखाई देती है और मन को आकर्षित करने के लिए हर स्थान पर विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त सभी आकर्षक पदार्थ भी माया का ही रूप हैं। अतः माया से बचना बहुत ही कठिन है।

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फांस लिये कर डोलै, बोलै, मधुरी बानी ॥
केसव के कमला होइ बैठी, सिवके भवन भवानी।
पंडा के मूरत होइ बैठी, तीरथहू में पानी ॥
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौडी कानी ॥
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ॥

कबीरदास ने माया को एक भयानक बिल्ली की तरह और जीव को भक्ष्य तोते की तरह माना है। वे जीव को सचेत करते है कि वह इससे सदा डरता रहे और कभी उसके पास न जाय।

सुवटा डरपत रहु भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन मैं, कबहुँक खता खवाई ॥
या मजारी मुगध न मानै, सब दुनियाँ डहकाई।
राणाँ-राव रंककौं ब्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाषों माँहि तै लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥

कबीरदास माया से बचने के लिए मन को भी जाग्रत (सचेत) रहने का उपदेश देते हैं—

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, वस्त भाव है सोई।
ताला कुंजी कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई ॥

पंच पहरवा सोइ गये है, बसतँ जागण लागी।
किरत बिचारि मनही मन उपजी, ना कही गया न आया॥
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया॥

यह माया पापिणी है। जो कर्मों का फंदा लेकर ससार रूपी बाजार में बैठी रहती है। सारा संसार तो इसके फदे मे पड़ गया है पर कबीर अपनी साधना से इसे काट कर इसके बन्धनों से साफ निकल जाता है।

कबीर माया पापिणी, फंद ले बैठी हाटि।
सब जग तो फधै पड़्या, गया कबीरा काटि॥

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना के मार्ग मे माया बड़ी बाधक है उसका संयोग भी बड़ा घातक है। वह मन को बलात् बाँध लेती है। अतः साधु को हर सम्भव उपाय करके मन को माया से बचा कर रखना चाहिए।

ज्ञान की महत्ता—ज्ञान को कबीर ने साधना के लिए महत्वपूर्ण माना है। ज्ञान से सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। माया का प्रभाव नष्ट हो जाता है और आत्मतत्व की प्राप्ति होती है। जब तक मनुष्य को ज्ञान नहीं होगा वह विषय-वासनाओं में भटकता फिरेगा। मनुष्य सांसारिक चमत्कारों को ही सुख की अंतिम स्थिति मानता है। सांसारिक पदार्थ उसकी दृष्टि को चकाचौंध किये रहते है। ईश्वर की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। जब मनुष्य के हृदय से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि सभी विकार मिट जाते हैं तब उसके हृदय मे आत्म-ज्योति का संचार होता है। कबीर ने ज्ञान की प्राप्ति को आंधी की संज्ञा दी है। जिस प्रकार आंधी के आने पर समस्त कूड़ा उड़कर दूर जा गिरता है और प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखाई देने लगती है। उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर की स्थिति का भान हो जाता है।

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बाँधी।
हित चित की द्वै थूनि गिरानी, मोह बलीड़ा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपर, कुबध का भांडा फूटा।
कूड़ कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जाणीं॥

तुलसीदास ने भी ज्ञान की महत्ता को इन शब्दो मे स्वीकारा है—

बिना बसीले चाकरी बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान को जोगना फिरै लगाये खेह॥

अतः यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बिना ज्ञान के योग नहीं हो सकता और बिना योग के आत्मा ब्रह्माण्ड में जाकर ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकती।

हठयोग साधना

कबीरदास ज्ञानी थे और योगी भी। वे बाह्याचार के स्थान पर अन्तर्मुखी साधना को अधिक सत् परिणामी मानते थे। कबीरदास पर हठयोगी नाथपंथियों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। अतः उनकी ज्ञान-साधना मे हठयोग का पूर्ण समावेश मिलता है। हठयोग-

मलि मलि धोई दाग न छूटे, ग्यान को साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दाग कब छूटहि, जब साहब अपनाय लिया॥

ज्ञान का मार्ग कोई सरल मार्ग नहीं है। यह बड़ा कठिन है। और तलवार की धार पर चलने के समान है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (गीता 12-15)

अर्थात् अव्यक्त साधना में क्लेश अधिक है क्योंकि मन में अहंकार आदि रहने के कारण इस साधना के निरन्तर असफल रहने की आशंका रहती है।

महात्मा तुलसीदास ने भी इसका समर्थन इन शब्दों में किया है—

'ज्ञान को पंथ कृपान की धारा। परत खगेस लाग नहीं बारा॥'

कबीरदास ने भी ज्ञान-साधना की इस दुरूहता को इस प्रकार व्यक्त किया है—

1. आकासे मुख औंधा कुँआ पाताले पनिहारि।
   ता का पानी को हंसा पीवै बिरला देखि बिचारि॥
2. उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
3. बांबी उलटि सरप को लागी, धरणि महा रस खावा।
4. जाको यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि कबीरदास ने *शरीर को हठयोग-साधना का मूलाधार* माना है। क्योंकि साधना के सभी तत्व इस शरीर में ही विद्यमान हैं, अतः कबीरदास शरीर को सुरक्षित रखते हुए योग साधना का आग्रह करते हैं। (शरीर मेको खलु धर्म साधनम्) अतः—

कातूंगी अर्थात् अत्यन्त मूल्यवान् आत्म-साधना करूँगी, क्योंकि मेरी यह आत्मा-जल अर्थात् ईश्वर से उत्पन्न हुई है और थल अर्थात् संसार के विषयों में फँसी हुई है और नगर अर्थात् माया से युक्त जीवन के कोलाहल पूर्ण वातावरण में आकर फँस गई है। बड़े आश्चर्य की बात है कि बेटी अर्थात् शुद्ध बुद्धि ने बाप अर्थात् ज्ञान को जन्म दिया है। अब शुद्ध बुद्धि रूपी बेटी अपने बाप ज्ञान से कहती है कि हे बाबुल ! (ज्ञान) मेरा विवाह कर दे। अर्थात् मुझे मेरे स्वामी परमात्मा से मिला दे। परन्तु जब तक तू मेरे इस वर अर्थात् ईश्वर को न खोज सके, तब तक तू ही मुझे ब्याह ले। अर्थात् अपने साथ रख ले, क्योंकि यह संसार बड़ा घातक है। सुबुद्धि को आकर्षित करने के लिए उसके पास लुबुधि अर्थात् लालच आया। यह तो ज्ञान अर्थात् दूसरी बहू माया का भाई है। अत: शुद्ध बुद्धि ने उसे पहचानकर चूल्हे अर्थात् मन में जलती हुई ज्ञान की अग्नि का आभास कराकर उसे फल अर्थात् शुद्ध बुद्धि को ग्रहण करने में ठिठका दिया (रोक दिया)। तात्पर्य यह है कि जब शुद्ध बुद्धि ने देखा कि माया का भाई लोभ उसे ग्रहण करना चाहता है तो शुद्ध बुद्धि ने उसे ज्ञान की अग्नि का भय दिखाकर दूर भगा दिया। कबीरदास कहते हैं कि चाहे सारा संसार मर जाय परन्तु बढई (विधाता, ईश्वर) जिसने शरीर रूपी चरखे को बनाया है नही मरना चाहिए। अर्थात् ईश्वर का ध्यान मेरे मन से समाप्त नही होना चाहिए क्योंकि यहाँ तो सब रांडो का (ईश्वर से विमुख वृत्तियों का) ही साथ है। अर्थात् मन में तो दुष्प्रवृत्तियाँ ही व्याप्त हैं। ऐसी स्थिति में इस चरखे रूपी शरीर को आत्म-ज्ञान रूपी हजरी का सूत कातने के लिए कौन चलाये।

अंत में कबीरदास कहते हैं कि वही सच्चा पण्डित और ज्ञानी है जो इस पद (कथन) को भली प्रकार समझ ले। यदि प्रथम परिचय अर्थात् सत्संग आदि में गुरु (साधना प्रक्रिया) का ज्ञान हो जाय तो सतगुरु पीछे माया से साधक को मुक्त करा सकता है।

कबीर ने हठयोग-साधना को झूले का रूपक देकर कुण्डलिनी को उस पर चढ़कर झूलने सम्बन्धी प्रक्रिया का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है—

हिंडोलना वहाँ झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतनि कौ विश्राम ।।
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियां, तहाँ झूलै जिय मोर ।।
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यह अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास ।।

हठयोग के पूर्ण हो जाने पर जब कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और वहाँ ब्रह्मरंध्र से झरने वाले अमृत का पान करती है तो जीवात्मा सासारिक बंधनों से मुक्त हो जाती है। कबीर ने इस दृश्य का भी बड़ा ही सारगर्भित और सजीव निरूपण किया है—

1. रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठे जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जँह कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जँह-तँह हंसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहीं आवै, काम-क्रोध-मद-लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी, कर्म-मर्म-अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥

2. मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहिं॥

3. गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥

4. मांहे पाती मांहे जल, मांहे पूजनहार।
कँवल माहे देहुरी, तिल जैसा बिसतार॥

5. अनहद बाजे नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अंतर प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥

6. कबीर कँवल प्रकासिया, उग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिट गई, बाजे अनहद तूर॥

इससे सिद्ध है कि कबीर योगी थे और "समाधिगम्य परम पुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे। पवन को उलट कर सहस्रार चक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे। उस महान् पद को देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेब की गम नहीं है, जहाँ की गगन-गुफा में किसी गैब की चांदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रात की पहुँच नहीं है—जो प्रेम के प्रकाश का समुद्र है, जो सदानन्द का विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्ति से परे है, जो एक रस है, ब्रह्म की डोल में (झूले में) वे निश्चित रूप से झूल चुके थे।[1]"

गुरु की महत्ता

प्रत्येक कवि भक्त हो या साधक, गुरु का महत्व सबने स्वीकार किया है। उपनिषदों और पुराणों में भी गुरु का महत्व प्रतिपादित किया गया है। कबीर भी गुरु की महत्ता स्वीकार करते हैं और उन्होंने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा माना है क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग तो गुरु ही बताता है। यदि गुरु न होता तो ईश्वर की प्राप्ति भी न होती।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो मिलाय॥

---

1. कबीर'—हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 136

ऐसा गुरु यदि सर्वस्व त्यागकर भी प्राप्त हो तो मंहगा नहीं है ।

यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खानि ।
सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जानि ।।

कबीरदास यह भली-भाँति जानते थे कि बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।

1. 'गुरु बिनु चेला ज्ञान न लहै ।'
2. गुरु बिन इह जग कौन भरोसा काके संग ह्वै रहिये ।

परन्तु कबीरदास किसी 'ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे' को गुरु नहीं मानते । उनका गुरु वही है जो सत्य को जान चुका है । अतः वे गुरु के लिए सत् शब्द का प्रयोग करते हुए सत्य के जानने वाले और सत्य को दिखाने वाले को ही गुरु मानते है । उनका गुरु सतगुरु ही होना चाहिए । क्योंकि कबीर की दृष्टि में सतगुरु ही ज्ञान-नेत्रों को खोल सकता है और अनंत (ईश्वर) के दर्शन करा सकता है—

सतगुरु की महिमा अनत अनत किया उपकार ।
लोचन अनंत उघाड़ियाँ अनंत दिखावणहार ।।

जिसका गुरु सत् नहीं है, उसका शिष्य भी अन्धा होता है । फलस्वरूप दोनों ही एक-दूसरे को ठेल-ठेल कर अज्ञान के अँधेरे कुएँ में डाल देते हैं—

जाका गुरु है आंधला, चेला महा निरंध ।
अंधे अंधा ठेलिया, दोनों कूप पड़ंत ।

गोरखनाथ ने भी कहा है—

गुरु कीजे महिला, निगुरा न रहिला ।

कबीर भी इसी परम्परा के समर्थक थे और बहुत सोच समझकर ही गुरु बनाने के पक्षपाती थे । इसीलिए उन्होंने अपने युग के परम संत, योगी और भक्त बाबा रामानन्द को गुरु बनाया था ।

'सद्गुरु के परताप से मिटि गयी सब दुख-दंद ।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द ।'

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कबीर कहीं भी अन्ध विश्वासी नहीं थे । वे जो भी करते थे, सोच-समझकर करते थे । गुरु के सम्बन्ध में इसीलिए उनकी धारणा पूर्णतया स्पष्ट है । विवेकानन्द की भाँति वे भी एक सत्य का दर्शन कराने वाले गुरु की ही खोज में थे और अंततः कबीरदास ने उसे खोज ही लिया । रामानन्दके प्रताप से ही कबीर को ज्ञान और सिद्धि प्राप्त हुई, इसीलिए उन्होंने गुरु को गोविन्द से भी बढ़कर बताने में हिचक नहीं की ।

भक्ति-साधना

इस अध्याय में हमने स्पष्ट किया है कि कबीरदास में ज्ञान और भक्ति का समन्वय मिलता है । साधना में भक्ति का अपना महत्व है । ईश्वर से प्रेम करना, सदाचार

का पालन करना, ईश्वर के नाम का जाप करना, दास्य भाव से उसकी भक्ति करना आदि भक्ति-साधना के अंग है। ये सभी तथ्य कबीर के काव्य में देखने को मिलते हैं। कबीर की भक्ति-साधना पर वैष्णव धर्म और उसकी भक्ति-भावना का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। बाबू श्याम सुन्दरदास इस सम्बन्ध में लिखते हैं,—'यह कहना अधिक उचित होगा कि ज्ञानियों की ब्रह्म जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष-विशेष बातों को लेकर कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया अथवा वैष्णवों के तात्विक सिद्धान्तों और व्यावहारिक भक्ति के मिश्रण से कबीर की भक्ति का उद्भव हुआ है।'[1] कबीरदास ने नाम स्मरण की प्रेरणा वैष्णवों से ही प्राप्त की थी। यह राम-नाम स्मरण ही तो निर्गुण भक्ति का मूल आधार है—

मेरे संगी द्वौ जणा एक वैष्णव एक राम।
वोहै दाता मुक्ति का वो सुमिरावै नाम॥
कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया वैसनौ पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत॥

यद्यपि कबीर ने निर्गुण ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अनन्य रूप मे ज्ञान साधना ही की है, किन्तु राम, रहीम, गोविन्द आदि नामो से उसे अभिहित करके भक्ति की भी व्यवस्था की है।

कबीर की भक्ति नारदी भक्ति है। कबीर ने स्वयं कहा है—

भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि विधि भवतिरत कहै कबीरा॥

जिस प्रकार नारद भगवान् के ध्यान मे मस्त रहकर नारायण-नारायण कहते हुए निश्चिन्त होकर घूमते रहते है। वे भक्तो के बाह्याचार का पालन नही करते, उसी प्रकार कबीरदास अपनी भक्ति-भावना मे निर्गुण राम का जाप करते रहते हैं और हिन्दू तथा मुसलमान भक्तों की भाँति नवधा भक्ति, रोजा, नमाज, तीर्थ-व्रत हज आदि का पूर्ण बहिष्कार करते हैं।

"एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहूँ नहि मेरा।
राखूं व्रत ना महरम जाना, तिस ही सुमिरूं जो रहै निदाना।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हृदय नमसकारूँ।
नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा॥"

नारद ने केवल एक ही से प्रेम किया था—'नारायण' से। वे उनके प्रेम मे इतने तल्लीन थे कि अन्य सब उन्हे व्यर्थ लगता था। जहाँ प्रेम होगा वहाँ पूर्ण आत्मसमर्पण और ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास भी होगा। आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण और एकनिष्ठ प्रेम नारदी भक्ति का मूल है।[2] कबीर की भक्ति भी इन्ही तत्वो पर टिकी है। अतः यहाँ

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 29
2. नारदातु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे व्याकुल तेति।

इसी आधार पर कबीर की भक्ति भावना का निरूपण किया जाता है।

नाम स्मरण— नाम जपना कबीर की भक्ति का एक प्रधान अंग है। साधक को राम का स्मरण सदैव करते रहना चाहिए। इससे मन की चंचलता और इन्द्रियों की भोगलोलुपता की समाप्ति हो जाने से ब्रह्म की सच्ची अनुभूति की ओर जाने की प्रेरणा मिलती है और भगवान् के प्रति प्रेम मे परिपक्वता, अनन्यता, तीव्रता, निरन्तरता आती है। कबीर ने राम-नाम जपने की बात अनेक स्थलों पर बार-बार कही है—

मन रे राम सुमिर राम सुमिर राम सुमिर भाई।

क्योंकि—

राम नाम सुमिरन बिना बूड़त है अधिकाई॥

यहाँ कबीर के राम तुलसी के राम के ही समान उदार तथा पतित पावन दिखाई देते है। वे आगे कहते हैं—

स्वान सूकर स्वान कीन्हा तऊ लाज न आई।
राम नाम अमृत छांडि काहे विष खाई॥

यहाँ वे पुनर्जन्म और राम को ही ससार का रचयिता मानकर उनके कर्मों के प्रति अनुग्रह प्रकट करने की बात आग्रह के साथ कहते हैं। वे राम-नाम-रूपी अमृत को छोड़कर विषयरूपी कर्म फल को खाने के लिए जीव को धिक्कारते है, और कहते हैं—

तजि भरम करम बिधि न खेद सम्हाल लेही।
जन कबीर गुरु प्रसाद राम करि सनेही॥

कबीरदास कहते है कि राम भजने से ही भला होगा।

कबीर कहता जात है, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा नहितर भला न होइ॥

कबीर की दृष्टि मे राम की भक्ति और भजन ही सार तत्त्व है। बाकी सब व्यर्थ है और दुःख का कारण है।

भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा कर्मणा कबीर सुमिरन सार॥

इस प्रकार कबीर की भक्ति मे स्मरण या नाम सुमिरन का बड़ा महत्त्व है। *कबीर का यह सिद्धान्त बिल्कुल सगुणवादी वैष्णवो से मिलता है पर वैष्णव जहाँ सगुण* राम का भजन करते है वहाँ कबीर निर्गुण राम का।

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
हिन्दू तुरक का कर्त्ता एकै ता गति लखी न जाई॥

इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र मे हृदयपक्ष को जोड़कर उन्होने निर्गुण राम के भजन की परम्परा डाली जो अनुभूति और प्रेम का अवलम्बन लेकर सरस और माधुर्य पूर्ण भक्ति की ओर बढ़ी।

प्रेम मूलक भक्ति -'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् भक्ति ईश्वर मे अलौकिक अनुरक्ति को कहते हैं (शाण्डिल्य भक्ति सूत्र)। ज्ञान मार्ग के अनुसार यद्यपि

निराकार ब्रह्म शुद्ध चिंतन का विषय है, परन्तु कबीर ने इस शुष्कता को निकालकर प्रेम पूर्ण चिन्तन की व्याख्या की जो शाण्डिल्य के मत के ही अनुरूप है। इस अलौकिक प्रेम रूपी मदिरा को यदि मनुष्य एक बार पी लेता है, तो जीवनपर्यन्त इसका नशा नहीं उतरता। वह अपने तन-मन की सुध-बुध भूल जाता है। कबीर ने इस प्रेम को 'हरि रस' कहा है। जिसका खुमार (नशा) कभी नहीं उतरता।

हरिरस पीया जानिये, कबहु न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत फिरै नाही तन की सार॥

कबीर ने प्रेम को भक्ति के लिए अनिवार्य माना है। बिना प्रेम के भक्ति कुछ नहीं है। वह मात्र झूठा अहंकार है।

1. भाग बिना नहीं पाइये प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति परयो सब जक्त॥

2. प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निजु दम्भ विचार।
उदर भरन के कारने, जग न गँवायो सार॥

इस प्रकार कबीर ने भक्ति के लिए प्रेम को अनिवार्य माना है। भगवत्प्रेम उनकी दृष्टि मे इतना दृढ़-निबद्ध था कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को पढ़ने वाले को ही वे सच्चा पण्डित मानते थे—

1. पढि पढि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एको छींट॥

2. पोथी पढि पढि जुग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े, सो पंडित होय॥

यह प्रेम समस्त बाह्याचारो की पहुँच के बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारों के प्रतिपाद्य से श्रेष्ठ व महान् है। जिसे अपने इष्टि पर विश्वास है। उसकी साधना को करोड़-करोड़ काल भी झकझोर कर विचलित नहीं कर सकते।

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झकझोर ही, तऊ न हो चित भंग॥

किन्तु यह प्रेम का मार्ग भी बड़ा दुष्कर है। यह खेतो मे पैदा नहीं होता और न बाजार में ही मिलता है। यह तो सिर उतारकर देने से ही प्राप्त हो सकता है।

1. प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचें, सीस देय लै जाय॥

2. साईं सेंत न पाइये, बातों मिले न कोय।
कबीर सौदा राम सौ, सिर बिन कदै न होय॥

प्रेम का व्यापार खाला का घर नहीं कि फरमाइश करने पर वह तुरन्त प्राप्त हो जाए। यहाँ तो वही प्रवेश कर सकता है, जो पहले सिर उतार कर धरती पर रख दे।

1. कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैठे घर माँहि॥

2. कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥

जिसमे साहस नही, अखण्ड प्रेम के ऊपर विश्वास नही, वह कायर है। प्रेम के लिए तो अपने आराध्य पर अखण्ड विश्वास चाहिए। उथली भावुकता से यहाँ काम नही बनता।

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारे हाथि करि, सो लेसी हरिनाम॥

प्रेम मे अनन्यता का होना परमावश्यक है। जहाँ अनन्यता नही वहाँ एकनिष्ठ प्रेम नही है, वह तो *छिछला प्रेम है। कबीर ने भक्त को सूरमा और सती के समान बताया* है। जिस प्रकार सती की सिंदूर रेखा के बदले काजल नही दिया जा सकता। वैसे ही भक्त के हृदय में एक बार राम रम गया, तो दूसरा उसमें नही रम सकता—

1. कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ॥

2. मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव॥

प्रेम में आत्मसमर्पण का भाव मुख्य रहता है। बिना आत्मसमर्पण के प्रिय की प्राप्ति नही होती। कबीर मे आत्मसमर्पण की भावना प्रबल दिखाई देती है। कबीर सब कुछ राम को ही मानते हैं। अपने अस्तित्व को वे तुच्छ मानते हैं। ईश्वर जैसे रखे वे वैसे ही रहना पसंद करते है। उन्होने तन-मन-धन सब राम को समर्पण कर दिया है। उसमे उसका कुछ नही, जो कुछ है सब प्रिय का है। यही भक्ति के लिए अनिवार्य है; और यही उसका चरम बिन्दु है। कुछ उदाहरण देखिए—

1. मेरा मुझ मैं कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सोंपता, क्या लागे है मेरा॥

2. मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं,
तन मन धन मेरा राम जी के ताईं।

आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोई गाहक सोइ बेचनिहारा।

बेचैं राम तो राखे कौन,
राखे राम तो बेचै कौन।

कहै कबीर मैं तन मन जार्‌या,
साहिब अपना छिन न बिसार्‌या॥

3. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवडी, जित खँचे तित जाउँ।
तो तो करै तो बाहुडौ, दुरि-दुरि करै तो जाउँ ॥
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौ, जो देवै सो खाउँ ॥

भक्त को हमेशा यही चिन्ता रहती है कि ईश्वर उससे रूठ न जाय। न जाने उसे क्या पसन्द हो।

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढग।
क्या जाणें उस पीव सूं, कैसी रहसी रंग ॥

बिना प्रिय के आत्मा तड़प रही है। दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं। आँखें थक गई हैं।

1. "तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहीं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर भया।
तन मन मोर रहत अस डोलै, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, सांई बेदरदी सुध न लिया ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।

2. बासर सुख ना रैन सुख ना सुख सपनेहु माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सौं, ना सुख धूप न छाँव ॥

3. आँखड़ियाँ झाईं पड़ी पथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाल्या पड्या राम पुकारि पुकारि ॥

4. नैना नीझर लाइया रहट बसै निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौ कबरु मिलोगे राम ॥

5. आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जानें दुखणियाँ।
साईं अपणे कारणे रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥

कबीर ने विरह को प्रेम का मूलाधार माना है। विरह में साधक के मन से समस्त मोहादि विकार नष्ट हो जाते हैं। उसका प्रेम परिपक्व होता है और दुख में फिर उसे ऐसा आनन्द मिलता है कि वह उसे अपने साथ लगाने में ही सुख का अनुभव करता है। कबीर ने विरह की इस स्थिति को अनिवार्य मानते हुए कहा है—

हँसि हँसि कंत न पाइये, जिन पाया तिन रोय।
जो हँसि खेले हरि मिले, तो न दुहागिनि कोइ ॥

प्रियतम इस दुख के मार्ग से ही आता है। रोदन ही उसका मार्ग है। इसलिए इस रोदन में भक्त एक प्रकार का उल्लास अनुभव करता है, क्योंकि वह प्रेमी के मिलन का मार्ग है।

जिहि सर मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सर अजहूँ मारि, सर बिनु सच पाऊँ नहीं ॥

जब प्रेम की साधना पूर्ण हो जाती है। तब आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है और वह अपने को अमर मानने लगती है।

> कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आइ।
> [illegible] र भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ ॥
> पूर[illegible] सो परचा भया सब दुख मेल्या दूरि।
> निर्मल कीन्ही आत्मा ताथे सदा हजूरि ॥

इस प्रकार भक्ति, प्रेम की अनन्यता और बिना शर्त के पूर्ण आत्मसमर्पण का ही दूसरा नाम है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस भक्ति-प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की है—

"प्रेम-भक्ति का यह पौधा भावुकता की आंच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारापात से मुरझाता है। वह हृदय के पातालभेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आंधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेम मे मादकता नही है पर मस्ती है, कर्कशता नही है पर कठोरता है—असंयम नही पर मौज है, उच्छृंखलता नही है पर स्वाधीनता है, यह प्रेम वज्र से कठोर है, कुसुम से भी कोमल। इसमे हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

> हारौं तो हरि मान है, जो जीतूं तो दाव।
> पारब्रह्म सो खेलता, जो सिर जाय तो जाय ॥[1]

सदाचार पालन

कबीर ने भक्ति-साधना मे सदाचार पालन पर विशेष बल दिया है। सद् आचरण ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। विषयों का त्याग करना, कुसंगति को त्यागना, सयम रखना ही सदाचार पालन है। सदाचार आत्म-साधना का मूल माना गया है। बिना सदाचार के आत्म ज्ञान नही हो सकता। सदाचार एक प्रकार से 'चित्तवृत्तिनिरोध' का व्यावहारिक रूप ही है। सदाचार पालन की विधि सरलता से अपनाई जा सकती है। बिना सदाचार के मन और बुद्धि का प्रभाव समाप्त नही होता और आत्म-ज्ञान भी नही होता। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की स्थिति को प्राप्त करने मे सदाचार का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। गीता मे श्रीकृष्ण ने स्वयं इस महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

> 1. सतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥
> 2. अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
> सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
> 3. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
> अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता 12 (14, 16, 19)

1. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 141

कबीरदास ने भी सदाचार पर बल दिया है। सदाचार ही कबीर उपासना की मूल कसौटी है। जो सदाचारी नहीं है, वह ढोंगी है। कबीर ने ऐसे ढोंगियों की खुल कर निंदा की है—

1. मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिर मे बैठे
ब्रह्म-छाँड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।
जगल जाय जोगी धुनिया रमौले।
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँचके होय गैले लबरा।
कहँहि कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा॥

2. ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होयके आसन मारै, लम्बी माला जपता है॥
अंतर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।

कबीर ने सदाचार और कर्मों की शुद्धता के लिए सत्संग को भी बड़ा महत्व दिया है क्योंकि सत्संगति से मनुष्य के कार्य एवं व्यवहारो पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए मनुष्य को कुसंग को त्यागकर सत्संग करना चाहिए।

कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि।
संगति बुरी असाधु की आठो पहर उपाधि।

तथा

कबिरा संगत साधु की बेगि करीजै आई।
दुरमति दूर गंवाइसी देसी सुमति बुलाई।

कबीर के उपासना सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास ने साधना-पद्धति के क्षेत्र मे ज्ञान और अलौकिक प्रेम का समन्वय करके ऐसे सरल और सरस मार्ग की नीव डाली थी, जो योग की नीरसता और कठिनाई से भरे हुए तत्वो तथा सिद्धों के भोगमय साधना के अनाचार से त्रस्त साधको के लिए आशा का मार्ग प्रशस्त कर सका। कबीरदास से पूर्व नाथ पंथियों का हठयोग, साधना की क्लिष्टता के कारण और

काव्य-सौन्दर्य

"शरीर तावद् इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।"

दण्डी के इस कथन का आशय यह है कि काव्य मनुष्य शरीर की भांति ही होता है। जिस प्रकार शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक दो पक्ष होते हैं, उसी प्रकार काव्य के भी इष्टार्थ और पदावली ये दो बाह्य तथा आंतरिक पक्ष होते हैं। काव्य के इन बाह्यान्तर पक्षों को क्रमशः अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष कहा जाता है। काव्याचार्यों ने रस को काव्य का अन्तंपक्ष माना है (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)। और भाषा, अलंकार तथा शैली या छन्द योजना को अभिव्यक्ति या कला पक्ष के अन्तर्गत रखा है। कबीरदास उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी कवि थे। काव्य प्रतिभा उन्हें संस्कार रूप में ही प्राप्त हुई थी। अतः वे उच्चकोटि के एक ऐसे रससिद्ध कवि थे जिनके बारे में यह कहा जाता है—

"जयन्ति ते सुकृत्तिनो रससिद्ध कवीश्वरा:
नस्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।"

इन तथ्यों के प्रकाश में ही कबीरदास के काव्य में निहित काव्य में काव्य-सौन्दर्य का निरूपण करना यहाँ उचित होगा। विवेचन की सुविधा के लिए हम काव्य-सौन्दर्य के तत्वों को इस क्रम से विवेचित करेंगे—

1. रस योजना।
2. भाषा।
3. अलंकार प्रयोग।
4. शैली।

रस योजना

कबीरदास एक दार्शनिक, साधक व समाज सुधारक थे, जिसके कारण उनके काव्य में शान्त भाव की प्रधानता है। इसी आधार पर उनके काव्य में शान्त रस और भक्ति रस का प्राधान्य मिलता है। कबीर हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य से चिन्तित थे। कबीर ने इनका दृढ़ता के साथ विरोध किया, जिसके लिए उन्हें दण्ड भी सहना पड़ा था। उनका साहस इससे घटा नहीं बल्कि और दृढ़ बना। ऐसे स्थानों पर वीर रस की झलक मिलती है। कबीर को शाक्तों से घृणा थी, इसलिए उन्होंने खुलकर उनके कार्यों की निन्दा की है। अतः यहाँ वीभत्स रस की सुन्दर योजना बन पड़ी है। करुण रस की झलक गौ-वध आदि हिंसक कार्यों के विरोध में मिलती है। उनकी उलटवाँसियों में अद्‌भुत रस की सुन्दर योजना है। हास्य रस की अभिव्यंजना हिन्दू-मुसलमानों के बाह्याडम्बरों के विरोध में व्यंग्य रूप में मिलती है। इस प्रकार कबीर के काव्य में सभी रसों का उपादान यत्किंचित देखा जा सकता है। शान्त तथा भक्ति कबीर के काव्य का अंगी रस है और अन्य सभी रस उसके उपजीवी हैं। कबीर की रस योजना का विवेचन संक्षेप में यहाँ किया जाता है—

अंगी रस (शान्त रस)

जैसा कि हम ऊपर कह चुके है कि कबीर के काव्य मे अंगी रस शान्त है। शान्त को अभिनवगुप्त ने एक मूल रस के रूप मे मान्यता प्रदान की है।

निम्नलिखित मत भी इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है—

"भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ।।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।।"

अर्थात् रति आदि भाव विकार है और शान्त(शम) प्रकृति अर्थात् मूल है। विकार प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न होकर फिर उसी मे लीन हो जाते हैं। अपने-अपने अनुकूल (विभावादि) निमित्तो के प्राप्त होने पर शान्त से ही (रत्यादि) भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर फिर शान्त मे ही लीन हो जाते हैं।

इस विवरण से यह तथ्य सामने आता है कि शान्त रस ही सभी रसों का मूल है क्योंकि रस का उद्रेक सत्व गुण से होता है। रस चिन्मय, अखण्ड, वेद्यान्तर स्पर्श शून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार प्राण माना जाता है। ये तत्व केवल निर्वेद मे ही उपलब्ध होते हैं। रति आदि लौकिक भाव हैं और निर्वेद अलौकिक, परन्तु निर्वेद रूपी पारस के स्पर्श से रत्यादि रूपी लौकिक वासना से युक्त लोहे के समान कठोर और कुत्सित भाव भी अलौकिक बन जाते है। अतः निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि सभी रसो के स्थायी भाव निर्वेद संरक्षित होते हैं। यदि ऐसा न हो तो रजो गुण और तमोगुण से युक्त स्थायी भाव रसाभास बनकर रह जायेगा। इससे स्पष्ट है कि शान्त रस ही वास्तविक रस है और अन्य रस शान्त से पोषित हैं। कबीर के काव्य में शान्त का यही प्रधानत्व और अन्य रसों का सहायकत्व बड़े स्पष्ट रूप मे उपलब्ध होता है।

कबीरदास को ज्ञान और भक्ति का प्रचार करना था। समाज को नीति, धर्म, मर्यादा, शिष्टाचार, त्याग, तप, संयम, मोक्ष आदि का उपदेश देना था। अतः उन्होंने अपने समस्त काव्य मे ज्ञान और भक्ति मूलक बाते ही कही है। कही उपास्य का वर्णन किया है तो कही अपनी दैन्य भावना का। कही माया का खण्डन हुआ है तो कही जगत् का। कही विकार रहित जीव अर्थात् आत्मा का निरूपण है, तो कही मन की सविकार प्रवृत्ति का। जिसके लिए कबीर ने त्यागन, गहन, उपेक्षणीय की परिपाटी को अपनाते हुए समाज को शान्ति, संतोष, दया, करुणा, क्षमा, कर्मठता, सत्य, अहिंसा, परोकार आदि का पाठ पढ़ाया है। ये सभी बातें तभी आती हैं, जब मनुष्य अज्ञान के अंधेरे से निकलकर ज्ञान के प्रकाश मे देखने लगे। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कबीर के काव्य मे सर्वत्र ज्ञान की बातें ही उपलब्ध होती है। और चूंकि यही ज्ञान अर्थात् निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है, अतः कबीर के काव्य मे सर्वत्र शान्त रस ही उपलब्ध होता है। इसका आशय यह हुआ कि 'शान्त' कबीर ग्रंथावली का अंगी रस है।

अंगी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वही रस अंगी रूप मे माना जाता है जो

किसी काव्य के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करता है और किसी कवि विशेष की रचना में आदि से अंत तक आकाश में विकीर्ण चन्द्रमण्डल की भांति सभी भावों और कार्यों को प्रकाशित करता हुआ स्निग्धता फैलाता है। अंगी रस किसी काव्य विशेष का वह प्रधान रस होता है, जिसके निकाल देने पर काव्य की गरिमा ही समाप्त हो जाती है। कबीर के काव्य में शान्त रस की ठीक यही स्थिति है। यदि कबीर ग्रंथावली से शान्त रस मूलक पदों को निकाल दें, तो कबीर की कविता का सार ही निकल जाएगा। नीचे शान्त रस का निरूपण किया जाता है, जिससे स्वतः ही स्पष्ट हो जाएगा कि कबीर की कविता का एक मात्र रस शान्त है।

कबीर ने ईश्वर, जीव, जगत्, माया, सदाचार, ज्ञान, मोक्ष आदि सभी विषयों पर गम्भीरता से विचार किया है और इनसे सम्बन्धित निष्कर्षों को अपने काव्य में सार रूप में निचोड़ा है। कबीर ने ईश्वर को निर्गुण रूप में माना है। जो अरूप है, निराकार है निर्विशेष है, वह देश व काल से परे है, उसका न आदि है न अंत। उससे ही सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा विष्णु, शंकर और ब्रह्मा तीनों की उत्पत्ति उसी से हुई है। कबीर ने इसे यों कहा है—

अक्षयवट एक पेड़ है निरंजन ताकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये पात भया संसार ॥

कबीर ने इस निर्गुण राम को शान्त भाव से स्मरण करने का उपदेश दिया है—

1. निर्गुण राम जपहु रे भाई।
2. रे मन राम सुमिर, राम सुमिर, राम सुमिर भाई।

जीव और ईश्वर एक ही है लेकिन माया के बंधन में बँधकर यह जीव ईश्वर से अलग हो गया है। ज्ञान होने पर, वह पुनः ईश्वर में ही विलय हो जाता है।

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि मिलाना, यह तथ कथो गियानी ॥

इसी प्रकार कबीर ने जगत् को एक सेमर का फूल कहकर उसकी अनिश्चितता, अर्थात् क्षणभंगुरता की ओर संकेत किया है।

ये ऐसो संसार है जैसे सेमर फूल।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल ॥

माया से बचने के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। ज्ञान होने पर मनुष्य को माया का दुःख नहीं व्यापता और वह ईश्वर की भक्ति में लीन हो जाता है—

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बाँधी।
हित चित की द्वै थूँनी गिरानी मोह बलींडा टूटा।
त्रिसना छानि परी घर ऊपरि दुरमति भाँडा फूटा।
जोग जुगति करि संतों बाँधी, निरचू चुवै न पाणी।
कूड़कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जाणी ॥

हठयोग की साधना प्रक्रिया मे भी शान्त रस का पूर्ण प्रतिपादन हुआ है। यथा—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोले, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया।
सांई को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।
ये चादर सुर नर मुनि ओढी, ओढ के मैली कीन्ही चदरिया॥
दास कबीर जतन से ओढी, ज्यों की त्यो धर दीनी चदरिया॥

सदाचार सत्संग के प्रसंगों मे भी शान्त रस का परिपाक् मिलता है।

कबिरा संगत साधु की हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाधु की आठो पहरि उपाधि॥

उपर्युक्त समस्त उदाहरणो मे शान्त रस व्याप्त है। शान्त का स्थायी भाव-निर्वेद है। आलम्बन-ईश्वर। आश्रय ज्ञानी और भक्त। उद्दीपन-सासारिक माया-मोह, का जंजाल, ईश्वर का अपार अमित सौन्दर्य। अनुभाव-सांसारिक आकर्षण को छोड़कर ईश्वर में ध्यान लगाना। संचारी भाव-तर्क, वेग, विबोध, चिंता, शंका, भय, दैन्य, निंदा, व्रीड़ा आदि हैं।

भक्ति रस—भक्ति रस को पृथक् से रस मानने का श्रेय श्री रूपगोस्वामी को है। भक्ति रस का स्थायी भाव-ईश्वर विषयक रति मानी जाती है। आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भाव, शान्त रस के ही समान होते हैं। इससे स्पष्ट है कि शान्त और भक्ति रस मे केवल स्थायी भाव का ही अंतर माना गया है। परन्तु यदि ईश्वर विषयक रति (प्रेम) को निर्वेद से पृथक् कर दें तो यह प्रथक्त्व हो ही नही पायेगा क्योंकि ईश्वर के प्रति प्रेम बिना ज्ञान के नही हो सकता। इस उक्ति मे इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है—

बिरा बसीते चाकरी बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान को जोगना फिरै लगाये खेह॥

इस बात को तो सभी संत और भक्त स्वीकार करते हैं कि बिना सदाचार पालन अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध के मन और बुद्धि के कुत्सित भाव तिरोभूत नही होते और बिना रजस तमस के तिरोभूत हुए सत्व गुणो का उद्रेक नही हो सकता। हृदय की सत्व-गुण मूलकता के बिना ज्ञान अर्थात् आत्मानुभूति नहीं हो सकती और बिना आत्मानुभूति के लौकिक विकारों (माया, मोहादि) से मन मुक्त नही हो सकता। बिना मन के विकारों से मुक्ति हुए ईश्वर विषयक रति अर्थात् प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि मन तो अत्यन्त चंचल है। गीता मे कहा गया है—

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥" (गीता, 6/34)

महात्मा तुलसीदास ने भी इसी ओर संकेत करते हुए कहा है—

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।।
या
अपनायौ तब जानिये जब मन फिर परिहै।

कबीर ने भी कहा है—

माला तो कर मे फिरै जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिरन नांहि।।

इस सबसे स्पष्ट है कि ईश्वर विषयक प्रेम तभी हो सकता है जब मन मे ज्ञान उत्पन्न हो जाय। अतः भक्ति रस का स्थायी भाव भी निर्वेद ही है। फिर भी कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी प्रेम-भावना के जो संकेत दिये हैं उनमे उनकी भक्ति भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। कुछ विद्वानो ने भक्ति को पृथक् से रस माना भी है, अतः इनके भक्ति विषयक पदो मे शान्त भक्ति रस की उपलब्धि होती है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

1. अंबर कुजा कुरलिया बरसि भरे सब ताल।
जिनते गोविन्द बीछुरे तिनके कौन हवाल।।
2. सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै।।
3. आंखड़ियाँ झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।।
जीभड़ियाँ छाल्या पड़्या राम पुकारि पुकारि।
4. फारि पटोरा धज करूँ, कामलियाँ पहराऊँ।
जिहि जिहि भेषा हरि मिले सोइ सोइ रूप बनाऊं।।

इन पंक्तियो मे स्पष्ट रूप से शान्त रस ही है, परन्तु यहाँ ईश्वर के प्रति आत्मा-रूपी भक्त अपने प्रेम, ईश्वर से मिलने की अभिलाषा और न मिलने पर दुख की स्थिति का वर्णन करता है। अतः ये पंक्तियाँ कबीर की भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। यहाँ निर्गुण भक्ति की उपलब्धि होती है। अतः इन पंक्तियो मे विद्वान भक्ति रस भी मान लें तो अनुचित नही है।

शृंगार रस की भ्रांति—कबीरदास के काव्य में विद्वानो ने वियोग और संयोग दोनो ही प्रकार का शृंगार रस माना है, परन्तु विचारणीय यह है कि शृंगार का स्थायी भाव दाम्पत्य रति एक लौकिक भाव है। यदि इसी को हम अलौकिक प्रेम की परिधि मे ले जाते है तो यहाँ रति न रहकर ज्ञान या निर्वेद का ही रूप दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त शृंगार के आलम्बन और आश्रय-लौकिक पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका होते हैं परन्तु निर्गुण प्रेम मे यह भी सम्भव नही है। अतः कबीर के शान्त और भक्ति मूलक पदों को जिनका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है, शृंगार के अंतर्गत माना जाना उचित नही है। कबीर के ऐसे पदो मे यद्यपि शृंगारिक संकेत मिलते हैं जिन्हे हम भावात्मक रहस्यवाद

पृथकत्व होने के कारण इन्हें पृथक् रस मान लेना उचित ही है। कतिपय रसों का परिचय नीचे दिया जाता है।

करुण रस—हिंसक कार्यों के विरोध सम्बन्धी पदों में करुण रस की स्पष्ट झलक मिलती है, जहाँ कबीर गाय आदि के प्रति दया और करुणा का भाव दिखाते हैं और दुष्ट मुसलमानों की भर्त्सना करते हैं। यथा—

1. जाका दूध धायकर पीजै।
 ता माता का वध क्यों कीजै॥

2. बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
 जे नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल॥

बीभत्स रस—कबीर को शाक्तों के अनाचारों से अतिशय घृणा थी। अतः उन्होंने शाक्तों को चाण्डाल से भी हीन बताकर और लहसुन की खान जैसी घृणित वस्तुओं के समकक्ष रखकर उनकी हीनता को प्रदर्शित किया है जिसमें हिंसक वृत्तिधारी शाक्तों के प्रति कबीर की घृणा स्पष्ट रूप से झलकती है। यथा—

1. सासत बामन-मत मिले बैस्नो मिले चाण्डाल।
 अंकमाल दे भेंटिये मानो मिले गोपाल॥

2. कबीर सासत ऐसो जानिये जैसी लहसुन की खानि॥
 कोने बैठे खाइए परगट होइ निदान॥

अद्भुत रस—कबीर की उलटवाँसियों में अद्भुत रस की उपलब्धि होती है, यथा—

1. एक अचम्भौ देख्यौ माई।
 ठाढ़ो सिंह चरावै गाई।
 कुत्ता कूँ लैं गई बिलाई।
 जल की मछली तरुवर ब्याई।
 चेला के गुरु लागे पाई।
 बैलहि डारि गूनि घर आई॥

2. समुदर लागी आगि, नदियाँ जरि कोयला भई।
 देखि कबीरा जागि, मच्छी रूखा चढ़ि गई॥

वीर रस—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्मविश्वास को आश्रय करके ही पनपती है। कबीर के लिए साधना एक विकट संग्राम स्थली थी, जहाँ कोई विरला सूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिर को उतार कर देने की कला नहीं आती, वह व्यक्ति इस मार्ग का राही नहीं बन सकता।" उदाहरणार्थ—

1. साँई सेंत न पाइये, बातां मिलै न कोय।
 कबीर सौदा राम सो, सिर बिन कदे न होय॥

2. साध का खेल तो विकट बेढा मती।
सती और सूर की चाल आगे ।।
सूर घमासान है पलक दो चार का
सती घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह पर्जन्तका काम भाई।
कहैं कबीर टुक बाग ढीलो करै,
उलटि मन गगन सों जगी आई ।।

इन पंक्तियों में कबीरदास ने साधु की साधना को सती और सूरमा के बलिदानी कार्यों से भी कठिन बताया है। इन पंक्तियों में उत्साह कूट-कूट कर भरा है। कबीर इस उत्साह के आश्रय हैं। सांसारिक माया और विकार आलम्बन। आत्मज्ञान उद्दीपन। अनुभाव और संचारी तो यहाँ स्पष्ट ही हैं। अत इस कथन मे वीररस का उपादान होता है, परन्तु यह शान्त सम्मत है।

कबीर इतने निर्भीक और साहसी थे कि मुसलमानों का शासन होते हुए भी उन्होंने उन्हे निर्भीकता पूर्वक डाँटा है और कहीं-कहीं वे उन्हे गालियाँ भी दे बैठे हैं। जैसे—

लहुरे थके दुहि पीया खीरू।
ताका अहमक भखै सरीरू ।।

'अहमक' शब्द का प्रयोग करके इस कथन मे गाय का वध करने वाले और माँस खानेवाले मुसलमानो को गाली दी है, चाहे वह बादशाह ही क्यो न हो। इतिहास बताता है कि कबीर की इसी निर्भीकता और साहस भरी फटकारो से चिढ़कर तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी ने उन्हें हाथी के नीचे कुचलवाया था, नदी मे डुबोया था और पर्वत से गिराया था, परन्तु फिर भी कबीर का उत्साह और साहस विचलित नहीं हुआ। वे निरन्तर अन्याय और अत्याचारों का विरोध एक सच्चे वीर की भाँति करते रहे थे। अत. उनकी वाणी में वीररस पूर्णतया विद्यमान है।

रौद्र रस—कबीरदास को हिन्दुओ के बाह्याडम्बरो पर बड़ा क्रोध था। वे बनावटी जीवन को बुरा मानते थे। हिन्दुओं मे धर्म के नाम पर फैले पापाचार को देखकर उनकी आँखों मे खून उतर आता था। वे क्रोध से अभिभूत होकर उन्हें उन बाह्याचारो के लिए दुत्कारते ही रहते थे। जैसे—

तुम कत बाम्हन हम कत सूद।
तुम्हरे लहू कि हमरे दूध ।।

इन पंक्तियों में कबीरदास ने हिन्दुओं की छुआछूत सम्बन्धी धारणा को क्रोध भरे स्वर में ललकारा है।

1. हिन्दू अपनी करै बडाई, गागर छुअन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई ।।

2. ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
सुवरन कलस सुरा भरा साधू निंदा सोय॥

इन पंक्तियों में महात्मा कबीरदास ने हिन्दुओं की (ऊँच निवास नीच करतूती) पर अपना सात्विक क्रोध व्यक्त किया है। कबीरदास पंडितों के पाखण्डों पर क्रोध व्यक्त करते हुए उन्हें इन शब्दों में डांटते हैं—

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी।

कबीरदास को उन पण्डितों पर बड़ा क्रोध आता था जो अपने को ब्राह्मण कहते थे, परन्तु उनकी कथनी और करनी में साम्य नहीं था।

पंडित बाद बदन्ते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै खाड कह्या मुख मीठा।

मनुष्य पूजा, भजन, कीर्तन, तीर्थ, व्रत सब कुछ करता था परन्तु फिर भी उसके मन से विकार नष्ट नहीं होते थे। ऐसे लोगों को देखकर भी कबीर का मन क्रोध से भर जाता था।

लौकी अठसठ तीरथ न्हाई।
कौरापन तऊ न जाई॥

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के साहित्य में बाह्याडम्बरों के विरोध स्वरूप सात्विक क्रोध की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। अतः इनके काव्य में रौद्र रस अपने पूर्ण प्रभुत्व के साथ अवतरित हुआ है।

भयानक रस—कबीरदास ने अपने काव्य में काल (मृत्यु) और माया की भयंकरता का बड़ा ही भयोत्पादक वर्णन किया है। मृत्यु और माया बड़ी क्रूर, पापिनी, शक्तिशाली पिशाचनी, डायन और कठोर कर्म कर्मिणी हैं। ये क्रूर आखेटिनी की भांति हैं, जो बड़े-बड़े सिद्धों तक का आखेट, करने में नहीं चूकती। मृत्यु तथा माया के इन भयंकरता के वर्णनों में भयानक रस का उपादान होता है। यथा—

1 माली आवत देख कर कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि लई काल्हि हमारी बार॥

2. बाढी आवत देखि कर तरवर डोलन लाग।
हम काटे कछु घिर नहीं पंखेरू घर भाग॥

इन पंक्तियों में काल की अवश्यभाविता, क्रूरता और भयंकरता का वर्णन किया गया है जिसे पढ़कर मनुष्य का मन भय से भर जाता है अत. यहाँ भयानक रस की सृष्टि हुई है। माया सम्बन्धी भयंकरता के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. तू माया रघुनाथ की, गेलणा चली अहेरे।
चुनि चुनि मारे चतुर निकारे, कोई न छाड्या नेटे॥
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगम में कं जंगम मारे, यह रे फिरै मंमती॥

2. एक डाइन मेरे मन बसै, नित उठि मेरे जिय को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच, निसि दिन मोहि नचावै नाच ।।

3. कबीर मन पछी भया उडि के चला अकास।
ऊपर ही तै गिर पड्या या माया के पास ।।

4. कबीर माया पापिणी फंद ले बैठी हाट।

भयानक रस का स्थायी भाव भय माना जाता है। इसका आलम्बन कोई भयानक वस्तु या प्राणी होता है। उद्दीपक परिस्थितियाँ उस वस्तु की भयानक क्रियाएँ व चेष्टाएँ तथा असुरक्षित वातावरण होता है। अनुभाव उस वस्तु और परिस्थिति की भयानकता का कथन आदि। सचारी भाव शका, दैन्य, चिन्ता आदि होते है। इन सबकी सिद्धि उपर्युक्त उदाहरणों से होती है, अतः ये पक्तियाँ भयानक रस का सटीक उदाहरण हैं।

कबीर ग्रथावली के रस सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि कबीर एक रससिद्ध कवि थे। उनकी रस योजना निर्वेद सम्मत है क्योकि उनके काव्य मे यत्र-तत्र और सर्वत्र शान्त रस की पावन गगा लहराती दिखाई देती है। यही कारण है कि ग्रंथावली का अगी रस शान्त है और अन्य रस शान्त के सहायक बनकर उद्भूत हुए है। करुण रस हिंसा सम्बन्धी कार्यों से एक संत के मन में रहने वाली दया, सहानुभूति और 'अहिंसा परमोधर्म' की मूल्यवान् भावना में प्रस्फुटित हुआ है। दया संत का अनिवार्य गुण है। कहावत है—'दया बिनु संत कसाई'। अत. कबीर का मन भी पाशविक हिंसा को देखकर द्रवित हुए बिना नही रहा। कबीरदास ने अदम्य साहस और निर्भीकता के साथ मुसलमान शासकों के अत्याचारो का विरोध किया है, जबकि स्वयं उनका पालन-पोषण मुस्लिम परिवेश और मुस्लिम परिवार में हुआ था। ऐसे स्थलों पर वीर रस का स्पष्ट उपादान मिलता है। हिन्दुओ पर दर्शित किये गये क्रोध मे मात्र रौद्र ही है क्योंकि वहाँ आशंका और भय न होने से साहस उद्भूत नही हो सका। साधना सम्बन्धी कथनो मे आश्चर्य की स्पष्ट सिद्धि हुई है। इसलिए अद्भुत रस भी कबीर की कविता में बड़े उदात्त रूप मे देखा जा सकता है। हास्य और शृंगार आदि लौकिक भावो से भावित होने वाले रसो का कबीर के साहित्य में अभाव पाया जाता है। यद्यपि दाम्पत्य प्रतीकों पर आधारित भक्ति सम्बन्धी कथनों और कबीर के तीक्ष्ण व्यंग्यो मे शृंगार और हास्य सिद्ध करने का विद्वानों ने प्रयास किया है, परन्तु यदि रस स्वरूप की कसौटी पर इन्हे कसें तो ये सभी स्थल शान्त, वीर, रौद्र और अद्भुत आदि की ही परिधि में आते हैं। कबीर के समस्त कथन धर्म और मोक्ष की सिद्धि के लिए ही हैं और अलौकिक हैं, जिसका प्रतिनिधित्व निर्वेद सम्मत शान्त रस ही करता है। अतः कबीर के काव्य का अंगी रस शान्त है और अन्य जो भी रस उपलब्ध होते हैं उनका भी अन्तर्भाव अन्ततोगत्वा शान्त मे ही हो जाता है। इस समस्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि महात्मा कबीरदास एक रससिद्ध कवि हैं।

2. ऊँचे कुल का जनमिया करनी ऊँच न होय।
सुवरन कलस सुरा भरा साधू निंदा सोय॥

इन पंक्तियों में महात्मा कबीरदास ने हिन्दुओं की (ऊँच निवास नीच करतूती) पर अपना सात्विक क्रोध व्यक्त किया है। कबीरदास पंडितों के पाखण्डों पर क्रोध व्यक्त करते हुए उन्हें इन शब्दों में डाँटते हैं—

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी।

कबीरदास को उन पण्डितों पर बड़ा क्रोध आता था जो अपने को ब्राह्मण कहते थे, परन्तु उनकी कथनी और करनी में साम्य नहीं था।

पंडित बाद बदन्ते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै खांड कह्या मुख मीठा।

मनुष्य पूजा, भजन, कीर्तन, तीर्थ, व्रत सब कुछ करता था परन्तु फिर भी उसके मन से विकार नष्ट नहीं होते थे। ऐसे लोगों को देखकर भी कबीर का मन क्रोध से भर जाता था।

लौकी अठसठ तीरथ न्हाई।
कौरापन तऊ न जाई॥

उपर्युक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के साहित्य में बाह्याडम्बरों के विरोध स्वरूप सात्विक क्रोध की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। अतः इनके काव्य में रौद्र रस अपने पूर्ण प्रभुत्व के साथ अवतरित हुआ है।

भयानक रस—कबीरदास ने अपने काव्य में काल (मृत्यु) और माया की भयंकरता का बड़ा ही भयोत्पादक वर्णन किया है। मृत्यु और माया बड़ी क्रूर, पापिनी, शक्तिशाली पिशाचनी, डायन और कठोर कर्म कर्मिणी है। ये क्रूर आखेटिनी की भाँति है, जो बड़े-बड़े सिद्धों तक का आखेट, करने में नहीं चूकती। मृत्यु तथा माया के इन भयंकरता के वर्णनों में भयानक रस का उपादान होता है। यथा—

1 माली आवत देख कर कलियाँ करे पुकार।
फूली फूली चुनि लई कालिह हमारी बार॥

2. बाढी आवत देखि कर तरुवर डोलन लाग।
हम काटे कछु थिर नहीं पखेरू घर भाग॥

इन पंक्तियों में काल की अवश्यभाविता, क्रूरता और भयंकरता का वर्णन किया गया है जिसे पढ़कर मनुष्य का मन भय से भर जाता है अत. यहाँ भयानक रस की सृष्टि हुई है। माया सम्बन्धी भयकरता के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

1. तू माया रघुनाथ की, खेलण चली अहेरे।
चुनि चुनि मारे चतुर निकरे, कोई न छाड्या नेड़े॥
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल में के जगम मारे, यह रे फिरे मैमंती॥

2. एक डाइन मेरे मन बसै, नित उठि मेरे जिय को डसै ।
   या डाइन के लरिका पाँच, निसि दिन मोहि नचावैं नाच ।।

3. कबीर मन पछी भया उडि के चला अकास ।
   ऊपर ही ते गिर पड्या या माया के पास ।।

4. कबीर माया पापिणी फंद ले बैठी हाट ।

भयानक रस का स्थायी भाव भय माना जाता है। इसका आलम्बन कोई भयानक वस्तु या प्राणी होता है। उद्दीपक परिस्थितियाँ उस वस्तु की भयानक क्रियाएँ व चेष्टाएँ तथा असुरक्षित वातावरण होता है। अनुभाव उस वस्तु और परिस्थिति की भयानकता का कथन आदि। संचारी भाव शका, दैन्य, चिन्ता आदि होते हैं। इन सबकी सिद्धि उपर्युक्त उदाहरणों से होती है, अतः ये पक्तियाँ भयानक रस का सटीक उदाहरण है।

कबीर ग्रथावली के रस सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि कबीर एक रससिद्ध कवि थे। उनकी रस योजना निर्वेद सम्मत है क्योंकि उनके काव्य मे यत्र-तत्र और सर्वत्र शान्त रस की पावन गंगा लहराती दिखाई देती है। यही कारण है कि ग्रथावली का अंगी रस शान्त है और अन्य रस शान्त के सहायक बनकर उद्भूत हुए हैं। करुण रस हिसा सम्बन्धी कार्यों से एक संत के मन में रहने वाली दया, सहानुभूति और 'अहिंसा परमोधर्म' की मूल्यवान् भावना मे प्रस्फुटित हुआ है। दया संत का अनिवार्य गुण है। कहावत है—'दया बिनु संत कसाई'। अतः कबीर का मन भी पाशविक हिंसा को देखकर द्रवित हुए बिना नही रहा। कबीरदास ने अदम्य साहस और निर्भीकता के साथ मुसलमान शासकों के अत्याचारो का विरोध किया है, जबकि स्वयं उनका पालन-पोषण मुस्लिम परिवेश और मुस्लिम परिवार में हुआ था। ऐसे स्थलो पर वीर रस का स्पष्ट उपादान मिलता है। हिन्दुओं पर दर्शित किये गये क्रोध मे मात्र रौद्र ही है क्योकि यहाँ आशंका और भय न होने से साहस उद्भूत नही हो सका। साधना सम्बन्धी कथनो मे आश्चर्य की स्पष्ट सिद्धि हुई है। इसलिए अद्भुत रस भी कबीर की कविता मे बड़े उदात्त रूप मे देखा जा सकता है। हास्य और श्रृंगार आदि लौकिक भावो से भावित होने वाले रसो का कबीर के साहित्य मे अभाव पाया जाता है। यद्यपि दाम्पत्य प्रतीकों पर आधारित भक्ति सम्बन्धी कथनों और कबीर के तीक्ष्ण व्यंग्यों में श्रृंगार और हास्य सिद्ध करने का विद्वानो ने प्रयास किया है, परन्तु यदि रस स्वरूप की कसौटी पर इन्हे कसें तो ये सभी स्थल शान्त, वीर, रौद्र और अद्भुत आदि की ही परिधि मे आते हैं। कबीर के समस्त कथन धर्म और मोक्ष की सिद्धि के लिए ही हैं और अलौकिक हैं, जिसका प्रतिनिधित्व निर्वेद सम्मत शान्त रस ही करता है। अतः कबीर के काव्य का अंगी रस शान्त है और अन्य जो भी रस उपलब्ध होते हैं उनका भी अन्तर्भाव अन्ततोगत्वा शान्त मे ही हो जाता है। इस समस्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि महात्मा कबीरदास एक रससिद्ध कवि हैं।

भाषा

भाषा अभिव्यक्त वाणी की प्राणशक्ति का दूसरा नाम है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में बहुत प्राचीन काल से ही पर्याप्त विवाद रहा है और अभी तक इसका एक मत हल नहीं निकल सका। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। विचारदास शास्त्री लिखते हैं—'इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है।' डॉ०बाबूराम सक्सेना लिखते हैं—'कबीर अवधी का प्रथम संत कवि है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर जहाँ कबीर की भाषा पर विद्वानों के वैविध्यपूर्ण विचार देखने को मिलते हैं, वहां यह मत भी प्राप्त होता है कि एक विद्वान् कबीर की कविता के लिए 'भाषा शब्द का प्रयोग कर रहा है तो दूसरा बोली का। लेकिन भाषा और बोली में एक निश्चित अन्तर है। वैसे तो बोली भी भाषा का एक रूप है किन्तु बोली ऐसी भाषा होती है जो विशेष वर्ग या स्थान में ही प्रचलित होती है तथा भाषा विशेष प्रसिद्धि के कारण बोली से विकसित होकर उच्च साहित्यिक रूप धारण कर लेती है। जैसे मैथिली पहले बोली थी किन्तु विद्यापति की पदावली में व्यवहृत होने के बाद भाषा बन गई। अर्थात् उसका विशिष्ट साहित्यिक रूप प्रचलित हो गया। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कबीर की भाषा को भाषा कहा जाय या बोली। इस सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि कबीर भ्रमणशील साधु थे और भ्रमणशील व्यक्ति की बोली में नित नूतन परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि कबीर की भाषा ब्रज, पूर्वी, राजस्थानी बोलियों एवं भाषाओं से प्रभावित होकर एक नई भाषा बन गई है। अतः कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कह सकते हैं। कबीर की भाषा के वैविध्य का एक कारण यह भी है कि कबीर न तो स्वयं पढ़े लिखे थे और न ही उनके समय में उनकी कविता का संकलन हो पाया था। कबीर जहाँ-जहाँ जाते थे अपने शिष्यों की एक परम्परा छोड़ते चले जाते थे। कबीर के पद उनके शिष्यों के धरोहर रूप में सुरक्षित रहते थे। एक शिष्य राजस्थान का था, तो दूसरा पंजाब का। तीसरा महाराष्ट्र का था तो चौथा बनारस का। इस प्रकार कबीर की वाणी शिष्यों की वाणी का मेल पाकर विविध रूपा बन गई।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की भाषा के बारे में कहते हैं—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त प्रभाव था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया।" भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को पूरा न कर सके।"

आचार्य शुक्ल ने कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा है, जिसमें ब्रज, खड़ी बोली, मैथिली, भोजपुरी, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं का पुट है। इसलिए कबीर की भाषा का निर्णय करना एक टेढ़ी खीर है क्योंकि वह 'पंचमेल खिचड़ी' है। कबीर की रचनाओं में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। यद्यपि कबीर ने भाषा के बारे में स्वयं भी कहा है कि उनकी बोली पूर्वी है—

'बोली हमारी पूरब की, हमे लखै नहि कोय।
हमको तो सोई लखैं, धुर पूरब का होय।'

तथापि खड़ी बोली, अरबी-फारसी, पंजाबी, ब्रज, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी भाषा पर स्पष्ट परिलक्षित है।

शब्द प्रयोग—कबीर का शब्द भण्डार असीम है। संस्कृत, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, बुंदेली, राजस्थानी, भोजपुरी, पंजाबी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं, अरबी-फारसी के लोकप्रचलित शब्द भी उनके काव्य में अनायास और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त दिखाई देते हैं।

कबीर की वाणी मे संस्कृत के शब्दो का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। हठयोग साधना तथा रहस्यवाद में संस्कृत के शब्दों की अधिकता देखी जा सकती है, किन्तु संस्कृत के प्रायः प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग कबीर ने किया है। यथा—

जल, नलिनी, कमल, इड़ा पिंगला, आत्मा, परमात्मा, माया, जीव, जगत, मुक्ति कुम्भकार, कुम्भ, त्रिगुण, आदि।

कबीर ने संस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ ही तद्भव शब्दो का भी प्रचुर प्रयोग किया है। यथा—

इंगला, पिंगला, सुषमन, कुम्हार, चाक, तिरगुन, फांस बानी, गियान, तुरक आदि। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तिरगुन फांस लिये कर डोले बोले मधुरी बानी।

कबीर ने देशज शब्दों का प्रयोग भी अपनी वाणी मे किया है। ये शब्द समाज के बहुप्रचलित शब्द हैं, जिन्हे अशिक्षित तथा सामान्य जनता भी सरलता से समझ लेती है। जैसे छानि, टाटी, बलीड़ा, थूनि, भांड़ा आदि। निम्नलिखित पद मे देशज शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

संतो भाई आई ग्यान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी।
हित चित की है थूनि गिरानी मोह बलीड़ा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि कुबुधि का भांड़ा फूटा।

कबीर वाणी में ब्रज के क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। यथा—

1. चलत कत टेढ़ो टेढ़ो रे।
2. इन्द्री पसर मिटाइये।
3. खसम निपूतो आंगन सोवै।
4. सब रोंडन को साथ चरखा को धरै।

कबीर ने अपनी बोली को पूर्वी कहा है। अतः कबीर के काव्य मे पूर्वी बोली के शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, जिससे उनके काव्य की सरसता बढ़ गई है। मनुआ, चदरिया, दुलहिनी, गावहु, कुरलिया, आदि। भोजपुरी, मैथिली और राजस्थानी, तीन पूर्वी बोलियों के शब्द भी कबीर के काव्य मे देखे जाते हैं। भोजपुरी का एक उदाहरण देखिए—

'कनवा फड़ाय जटवा बढ़ोले, दाढ़ी बढ़ाइ जोगी होइ गेलै बकरा'

नीचे लिखी पंक्तियों में राजस्थानी का कैसा सुन्दर प्रभाव दिखायी पड़ता है—

1. आँखडियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जानैं दुखडियाँ।
साईं अपने कारणैं, रोईं रोईं सतडियाँ॥

2. आँखडियाँ झाईं पडी, पंथ निहारि निहारि।
जीभडियाँ छाल्या पड्या, राम पुकारि पुकारि॥

मैथिली का पुट भी कबीर की भाषा में मिलता है—

'दाँत गयल मोर पान खात। केस गयल मोर गंगन्हात।'

अरबी, फारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग कबीर में खूब मिलता है। कबीर के समय तक अरबी-फारसी भाषा का प्रयोग काफी बढ़ गया था। अरबी मुस्लिम शासकों की धर्म भाषा थी और फारसी राजभाषा। इसलिए मुस्लिम शासन में इन दोनों भाषाओं का प्रचार पर्याप्त रूप में हो गया था। हिन्दी के सभी भक्त-कवियों ने इन भाषाओं के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया है। कबीर में भी ऐसे शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं जो उस समय तक जन-जीवन में घुल मिल गये थे।

साहब, दीदार, बहिस्त, मुकाम, फरिस्ता, शैतान, पीर, खाला, तुर्क, मस्जिद, मुल्ला, बाँग, खुदा, अल्लाह, औलिया, दोजख, पैगम्बर, आदि। एक उदाहरण देखिए—

1. वेद-कतेब इफतरा भाई दिल का फिकर न जाई।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माँहि।
इह जु दुनिया सहरु मेला दस्तगीरी नाँहि॥
दरोग पढि पढि खुशी होइ बेखबर बाद बकाहि।
हक सच्चु खालक खलक म्याने स्याम मूरति नाँहि॥
असमान म्याने लहँग दरिया गुसल करद न बूद।
करि फिकरु दाइम लाइ चसमे जहँ तहाँ मौजूद॥
अल्लाह पाक पाक है सक करो जो दूसर होइ।
कबीर कर्म करीम का उहु करै जानै सोइ॥

2. खालिक खलक खलक में खालिक सब जग रह्यो समाई।

खड़ी बोली का प्रयोग भी कबीर ग्रंथावली में यत्र-तत्र मिलता है।

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गया मैं भी हो गया लाल॥

कबीरा खड़ा बाजार मे माँगै सब की खैर।
ना काऊँ संग दोस्ती ना काऊँ सग बैर॥

शब्दों की तोड़-मरोड़ भी कबीर ने खूब की है। सन को सनि, सना, सूं आदि

अनेक प्रकार से तोड़ मरोड़कर अपनी उक्तियों में ला बिठाया है। बहिश्त को भिस्त बना कर उसे जन-जीवन के सामान्य भाव से जोड़ दिया है—

इस प्रकार कबीर का शब्द प्रयोग अत्यन्त व्यापक है, जो उनके व्यक्तित्व की व्यापकता तथा विविधता को परिलक्षित करने मे पूर्ण सहायक है। कबीर किसी एक भाषा या बोली से नही जुडे थे, वे अनेक से जुड़े थे। यही कबीर की विशेषता है जो अन्य कवियों मे नही मिलती।

गुण-प्रयोग—गुण प्रयोग भाषा की सजीवता मे चार चाँद लगा देता है। कबीर ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों ही गुणो का प्रयोग अपने काव्य मे किया है। इन गुणों के प्रयोग से भाषा कोमल, सरल, सजीव, रोचक व प्रभावशाली बन पड़ी है।

माधुर्य गुण—माधुर्य जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमे मधुरता का सचार होता है। कबीर के काव्य मे माधुर्य गुण का अभाव नही है। भावात्मक रहस्यवाद की पंक्तियों मे माधुर्य गुण का पूर्ण परिपाक हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है —

1. बिरहिन ऊभी पंथ पै पंथी बूझे धाइ।
   एक सबद कहो पीउ का कब रे मिलेंगे आइ।।
2. बालम आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देहरे।
3. यह तन जारों मसि करों लिखो राम का नाउँ।
   लेखनि करों करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ।।
4. वे दिन कब आवेंगे माई।
   जा कारनि हम देह धरी है मिलवो अंग लगाई।

उपर्युक्त उदाहरणों मे वियोग शृंगार की प्रधानता होने के कारण मार्मिकता व सजीवता का पुट विद्यमान है, अतः यहाँ माधुर्य गुण की प्राप्ति होती है।

ओज गुण—जहाँ वीरता व उत्साह आदि का वर्णन हो वहाँ ओज गुण होता है। ओज प्रायः वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि रसो में मिलता है। जिनके वर्णन से पाठकादि के रोंगटे खडे हो जाएँ। मन मे स्फूर्ति का संचार हो। कबीर के काव्य में समाज सुधार की भावना मिलती है। उस समय हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने बाह्याडम्बरों मे इस तरह जकड़े थे कि एक-दूसरे को मारने को दौडते थे। हिन्दू अपने को बड़ा समझता था और मुसलमान अपने को। जबकि दोनों ही एक ही ईश्वर की संतान है। अतः कबीर ने क्रोध में हिन्दू-मुसलमानो को डाँटते हुए कहा है—

जो तू बाभन बंभनी जाया,
तो आन बाट से क्यों नही आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया,
तो भीतर खतना क्यो न कराया।।

इन पंक्तियो मे आडम्बरधारियों के प्रति कबीर का रोष स्पष्ट है। अतः यहाँ ओज गुण है।

प्रसाद गुण—माधुर्य तथा ओज के मध्य मे प्रसाद का आविर्भाव होता है। इसका

प्राधान्य शान्त आदि सभी रसों मे होता है। कबीर के काव्य में शान्त की प्रधानता होने के कारण सर्वत्र प्रसाद गुण की प्रधानता है।

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई।।

गुरु गोविन्द दोउ खडे काके लागो पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो मिलाय।।

शब्द-शक्ति प्रयोग—शब्द शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा द्वारा अर्थ की सामान्य अभिव्यक्ति होती है। लक्षणा द्वारा शब्द का अपेक्षित भीतरी अर्थ निकलता है और व्यंजना के द्वारा व्यंग्य की प्राप्ति होती है। कबीरदास के काव्य मे ये तीनों ही शब्द शक्तियाँ बडे ही आकर्षक और प्रेरणादायक रूप में विद्यमान हैं। इनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

अभिधा—कबीरदास की भाषा बोल-चाल की जन भाषा ही है जिसमें अभिधा का सर्वत्र प्रयोग मिलता है। जैसे—बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिन को कौन हवाल।।
आदि सरल शब्दों में अभिधा का सर्वत्र भाव देखा जा सकता है।

लक्षणा—लक्षणा कबीर के काव्य की प्रमुख शक्ति है। कबीर की उलटबाँसियों, रहस्यात्मक तथा दर्शन सम्बन्धी पदों मे लक्षणा की प्रधानता है।

जल में कुम्भ-कुम्भ मे जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि मिलाना यह तथा, कथौ गियानी।।

यहाँ सामान्य शब्द जल और घड़े से अर्थ की प्राप्ति नही होती। इसलिए वाँछित अर्थ के लिए यहाँ क्रमशः परमात्मा तथा आत्मा अर्थ किया जाएगा और इस पद का अर्थ होगा कि आत्मा माया के अस्तित्व के कारण अपने रूप को भूल जाती है किन्तु जब माया का पर्दा हट जाता है तब आत्मा-परमात्मा मे विलीन हो जाती है। यहाँ इष्टार्थ की प्राप्ति मे अभिधा द्वारा प्राप्त सामान्य अर्थ के अशक्त हो जाने के कारण अन्य अर्थ की प्राप्ति का उद्योग करना पड़ा है। इसलिए यहाँ लक्षणा शब्द शक्ति है। इसी प्रकार अन्य कुछ उदाहरण भी हैं, जो लक्षणा के रूप का ज्ञान कराते है—

1. काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
   जल मे उतपति जल मे वास, जल मे नलिनी तोर निवास।।
2. लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
   लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गई लाल।।
3. संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
   हितचित की द्वै थूनी गिरानी मोह बलीड़ा टूटा।
   त्रिसना छानि परी घर ऊपर कुबुधि का भाँड़ा फूटा।
4. झीनी झीनी बीनी चदरिया।
   काहे का ताना काहे की भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
5. एक अचम्भो देख्यो भाई।

ठाढ़ो सिंह चरावै गाई।
पहले भयो पूत पीछे भई आई।
कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।
जल की मछली तरुवर ब्याई।
बैलहि डार गूनि घर आई।
चेला के गुरु लागै पाई ॥

व्यंजना—कबीर की भाषा का सबसे बड़ा गुण उनकी व्यंग्य क्षमता है। हिन्दू-मुसलमानों के आडम्बरों, ढकोसलों का कबीर ने खुलकर विरोध किया है और उन पर तीखे व्यंग्य किये हैं। यहाँ उनकी व्यंजना शक्ति उभर कर आई है। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अपने को बड़ा समझते हैं। एक राम को पूजता है तो दूसरा अल्लाह को। इसी सम्बन्ध में कबीर उनकी बखिया उधेड़ते हुए कहते हैं।

अरे इन दोऊन राह न पाई।
हिंदू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलियाँ मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घर में करै सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाये धोये-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठी घरभर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है जाई।

2. हिन्दू बरत-एकादसि साधैं, दूध-सिंघारा सेतीं।
अनको त्यागैं मनको न हटकै, वरन करै सगोती।
तुरुक रोजा नमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारै।
- इनकी भिस्त कहाँ तै होइ है, साँझै मुरगी मारै।

3. माला फेरत जुग भया गया न मन का फेर।
करका मनका डार के मनका मनका फेर ॥

4. माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिरिन नाँहि।

5. काँकर पत्थर जोरि के मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय।

इतनी स्पष्ट और सजीव भाषा में कदाचित ही किसी सन्त, भक्त या महात्मा ने जातिवाद, धर्मवाद और वर्णवाद पर प्रहार किया हो। इसी प्रकार की कठोरता में ही कबीर की दृढ़ निष्ठा छिपी हुई है। व्यंग्य की इन विशेषताओं पर मुग्ध होकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यहाँ तक कह दिया कि आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा सम्बन्धी जो टिप्पणी की है उसका सार यह है—

"सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी मे ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नही हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले संतो और योगियों की कमी नही है, पर इस कदर सहज और सरस ढग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठो मे हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यग्यकर्ता थे।

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है।
चिउंटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।।
ऊँचा नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाही, रहने को मन करता है।।
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी, गाडि जमी मे धरता है।
जेहि लहना है सो लै जाइ है, पापी बहि-बहि मरता है।।
सतवन्ती को गजी मिलै नहि, वैश्या पहिरै खासा है।
जेहि घर साधू भीख न पावै, भडुआ खात बतासा है।।
हीरा पाय परख नहि जानै, कौडी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

यह भाषा झकझोर देने वाली है जितनी ही सादी उतनी ही तेज।"[1]

प्रतीकात्मकता—प्रतीकात्मकता कबीर की भाषा की एक अनन्य विशेषता है। इसी के कारण कबीर की उलटवांसियों की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है। दीपक, हीरा और पावक आदि ज्ञान के, हाट—ससार का, दीपक—शरीर का, बाती—प्राण की, पतिंगा—विषयवासना का, हंस, पंखी, नलिनी आदि जीवात्मा के, यमुना—पिंगला की, गंगा—इडा की, पनिहारिन—कुण्डलिनी की, भृंगी—गुरु का, डाकिनी, पिशाचिनी, मोहिनी, वेश्या आदि माया के प्रतीक माने गये हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

सुरति समाणी निरति मे निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया रही न तन की सार।।

यहाँ सुरति-निरति के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को व्यक्त किया गया है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 143-44

पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
देखत ही छिप जाएगा ज्यो तारा परभात।।

यहां पानी के बुलबुले के माध्यम से जीवन की क्षणभगुरता को दर्शाया गया है।

लोकोक्ति-मुहावरों का प्रयोग—लोकोक्ति-मुहावरो के प्रयोग से भाषा समृद्ध, सुदृढ़ और साहित्यिक बनती है। कबीर के काव्य मे कही बाहर से लाकर इनका प्रयोग नही किया गया, स्वयमेव कबीर की ही मार्मिक, गम्भीर और प्रेरणादायक उक्तियाँ बड़ी संख्या में लोकोक्तियों के रूप मे प्रचलित हो गई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

1. कबिरा संगत साधु की वेगि करीजे जाय।
   संगत बुरी असाधु की दुरमति दिवस गँवाय।।
2. सासत वामन मति मिलैं बैष्णो मिलैं चँडाल।
   अंकमाल दे भेंटिए मानो मिले गोपाल।।
3. नीद न माँगे सायरा, भूप न माँगे स्वाद।
4. वेस्नो की छपरी भली ना सापत का बड़ गाउँ।
5. ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।
   औरन को सीतल करे आपहु सीतल होय।।

कबीर का एक-एक कथन सत्य पर आधारित होने के कारण लोकोक्ति व कहावत के रूप मे प्रसिद्ध हो गया है जो पूर्णतया चमत्कारक तथा शिक्षाप्रद है।

भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की भाषा मधुर, कोमल-कान्त-पदावली से युक्त सरस, सरल, सजीव मार्मिक, रोचक, गम्भीर, प्रौढ़, प्रभावशाली, शक्तिशाली और साहित्यिक है। कबीर की भाषा मे शब्द-चयन बड़ा ही उपयुक्त है। कही भी अशक्त और फालतू शब्द नही मिलते। कही भी शुष्कता और नीरसता नही है। कबीर की भाषा पूर्णतया दोषमुक्त है उनके प्रत्येक शब्द में व्यग्य एक अमोघ अस्त्र की भाँति देदीप्यमान है। कबीर के वाक्य नहीं, व्यंग्यबाण ही है। कबीर की भाषा मे दिव्य शक्ति विद्यमान है। उस सम्मोहन के साथ ही साथ हृदयदोहन की शक्ति भी परिलक्षित होती है। कबीर की भाषा एक ऐसा साधन है जो मन के मैल को सहज ही धोकर निर्मल बना देती है। उनका एक-एक शब्द 'आप्त-वाक्य' की भाँति सामाजिक मर्यादा को स्थिर रखने वाला विशालतम् प्रकाश स्तम्भ है। कबीर की खरी वाणी खोटे सिक्को की परिष्कारक कसौटी है। दोषो को खोज निकालने वाली चुम्बक है। अदृश्य को दृश्य बनाने का साधन है। अन्तरतम के अमानवीय रोग का निदान करके मन को स्वस्थ्य और स्वच्छ बनाने वाली अचूक औषधि है। आश्चर्यचकित कर देने वाले उनके जादुई शब्दों के चमत्कार से बड़े-बड़े ढोंगियों का ढोंग प्रकट होकर समाज को द्रष्टव्य हो सका और समाज बड़ो के वास्तविक बड़प्पन को सही रूप मे समझ सका।

उपर्युक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा सम्बन्धी जो टिप्पणी की है उसका सार यह है —

"सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले संतों और योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिल-मिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।।
पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।।
ऊँचा नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है।
चलने का मनसूवा नाही, रहने को मन करता है।।
कौडी कौडी माया जोडी, गाडि जमी मे धरता है।
जेहि लहना है सो लै जाइ है, पापी बहि-बहि मरता है।।
सतवन्ती को गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है।
जेहि घर साधू भीख न पावै, मंडुआ खात बतासा है।।
हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है।।

यह भाषा झकझोर देने वाली है जितनी ही सादी उतनी ही तेज।"[1]

प्रतीकात्मकता—प्रतीकात्मकता कबीर की भाषा की एक अनन्य विशेषता है। इसी के कारण कबीर की उलटबाँसियों की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है। और पावक आदि ज्ञान के, हाट —संसार का, दीपक—शरीर का, पतिंगा—विषयवासना का, हंस, पंखी, नलिनी आदि जीवात्मा के, गंगा—इड़ा की, पनिहारिन—कुण्डलिनी की, भृंगी—गुरु का, मोहिनी, वेश्या आदि माया के प्रतीक माने गये हैं। कुछ उदाहरण

सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधा
सुरति निरति परचा भया रही न तन की सार

यहाँ सुरति-निरति के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के ... गया है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 143-44

पुनरुक्ति प्रकाश—इसमें शब्द की आवृत्ति दो बार होती है लेकिन अर्थ एक ही होता है भिन्न नहीं। जैसे—

1. तूं तूं करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।

2. परबत-परबत मैं फिरा नैन गंवाये रोय।

3. मरते-मरते जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।

4. जुगन-जुगन की त्रिखा बुझानी करम भरम अधव्याधि टरे।

5. सहज-सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हें कोइ।

यहाँ तूं-तूं, परबत-परबत, मरते-मरते, जुगन-जुगन आदि युग्म एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। अतः इनकी पुनरुक्ति होने से यहाँ पुनरुक्ति प्रकाश है।

यमक—जहाँ एक ही शब्द की एक या अनेक बार आवृत्ति होने पर प्रत्येक बार उसका अर्थ भिन्न हो, वहाँ यमक होता है।

1. मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहिं होइ।

यहाँ पहले मन का अर्थ है साधारण मनुष्य का चंचल मन तथा दूसरे मन का अर्थ है मन भर। अतः यहाँ यमक है।

2. गुन गाये गुन ना कटै रटै न राम वियोग।

यहाँ पहले गुन का अर्थ ईश्वर का गुणगान करना तथा दूसरे गुन का अर्थ त्रिगुणात्मक बंधन है।

3. दीन गरीबी दीन को दुंदर को अभिमान।

यहाँ प्रथम दीन का अर्थ 'दी' और दूसरे दीन का अर्थ 'गरीब' है।

श्लेष—जहाँ अभिधा से एक ही शब्द के दो या दो से अधिक अर्थ निकलें, वहाँ श्लेष अलंकार होता है यथा—

1. मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन ओढन हारी।

यहाँ मदन के दो अर्थ हैं। पहला प्रेम तथा दूसरा अहंकार रहित।

2. अखिल निरंजन सकल सरीरा।

यहाँ सकल के सम्पूर्ण तथा कला सहित दो अर्थ निकलने से श्लेष है।

3. अंधा नर आसामुखी, यो ही खोवै आब।

यहाँ आब का अर्थ मर्यादा तथा जल होने से श्लेष है।

अर्थालंकार—जहाँ अर्थ करने पर चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ अर्थालंकार होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, विभावना, विशेयोक्ति आदि इसके अंतर्गत आते हैं। कबीर के काव्य मे अर्थालंकारों का प्रयोग प्रचुर रूप में मिलता है।

उपमा—जहाँ उपमेय और उपमान में किसी विशेष गुण के कारण समानता बताई जाय, वहाँ उपमा अलंकार होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. राती रूनी बिरहिनी ज्यों बच्चो को कुंज।

2. राम पियारा छांडि करि करै आन की आस।
वेस्या केरा पूत ज्यों कहै कौन कूं बाप॥

अलंकार प्रयोग तथा उपमान योजना

अलंकार काव्य की शोभा है। जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री आभूषणों को धारण करने से और अधिक सुन्दर लगती है, उसी प्रकार कविता भी अलंकारों के प्रयोग से अधिक सुन्दर और आकर्षक लगने लगती है। उचित अलंकारों का प्रयोग काव्य की सुन्दरता में चार चांद लगा देता है। केशवदास ने कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

इस प्रकार अलंकार काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के अनिवार्य हेतु माने गये हैं।

काव्य में अलंकारों को दो भागों में बांटा गया है—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। शब्दालंकार शब्द के माध्यम से काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं जबकि अर्थालंकार अर्थ के माध्यम से काव्य में चमत्कार लाते हैं। दोनों ही प्रकार के अलंकार काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

कबीर मूलतः युगद्रष्टा व दार्शनिक थे। उनका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को सही दिशा देना था। अतः कला पक्ष की ओर उनका सायास प्रयास नहीं हुआ। स्वतः ही जो वाणी से फूट पड़ा, वही उनका काव्य बन गया। दूसरे—कबीर पढ़े लिखे न थे, उन्होंने विधिवत् काव्यशास्त्रादि में दीक्षा ग्रहण नहीं की थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

'मसि कागद छूआ नहीं कलम गही नहीं हाथ।'

फिर भी कबीर के काव्य में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। ये अलंकार उनके काव्य की शोभा को बढ़ाने में पूर्णतः सहायक हैं। भावानुकूल और उपयुक्त होने के कारण इनके काव्य में अलंकार कहीं भी अनुपयुक्त व बोझिल नहीं लगते। कबीर द्वारा सर्वाधिक प्रयुक्त अलंकार रूपकातिशयोक्ति तथा सांगरूपक हैं। उपमा, विभावना, विनोक्ति, व्याजोक्ति, निदर्शना, दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास जैसे उपयोगी तथा शिक्षाप्रद अलंकारों का भी प्रयोग कबीर के काव्य में हुआ है। श्लेष तथा यमक जैसे शब्दलंकार भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। यहाँ संक्षेप में इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए कबीर के अलंकार-विधान का उल्लेख करेंगे।

शब्दालंकार—जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर के काव्य में अर्थालंकारों का ही प्राधान्य है, परन्तु कबीर के काव्य में श्लेष, यमक, अनुप्रास, पुनरुक्ति आदि शब्दालंकारों के भी यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं।

अनुप्रास—किसी वर्ण की आवृत्ति अनुप्रास की विशेषता है। कबीर के काव्य में अनुप्रास की छटा भी सर्वत्र बिखरती दिखाई देती है। यथा—

1. तत्त तिलक तिहूँ लोक में रामनाम निज सार।

2. मेरा मन सुमिरै राम को मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि॥

उपर्युक्त दोहों में त, क, म तथा र की आवृत्ति होने से अनुप्रास है।

पुनरुक्ति प्रकाश—इसमें शब्द की आवृत्ति दो बार होती है लेकिन अर्थ एक ही होता है भिन्न नहीं। जैसे—

1. तूं तूं करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ।
2. परबत-परबत मै फिरा नैन गँवाये रोय।
3. मरते-मरते जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
4. जुगन-जुगन की त्रिखा बुझानी करम भरम अघव्याधि टरै।
5. सहज-सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोइ।

यहाँ तूं-तूं, परबत-परबत, मरते-मरते, जुगन-जुगन आदि युग्म एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। अतः इसकी पुनरुक्ति होने से यहाँ पुररुक्ति प्रकाश है।

यमक—जहाँ एक ही शब्द की एक या अनेक बार आवृत्ति होने पर प्रत्येक बार उसका अर्थ भिन्न हो, वहाँ यमक होता है।

1. मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहिं होइ।

यहाँ पहले मन का अर्थ है साधारण मनुष्य का चंचल मन तथा दूसरे मन का अर्थ है मन भर! अतः यहाँ यमक है।

2. गुन गाये गुन ना कटै रटै न राम वियोग।

यहाँ पहले गुन का अर्थ ईश्वर का गुणगान करना तथा दूसरे गुन का अर्थ त्रिगुणात्मक बंधन है।

3. दीन गरीबी दीन को दुंदर को अभिमान।

यहाँ प्रथम दीन का अर्थ 'दो' और दूसरे दीन का अर्थ 'गरीब' है।

श्लेष—जहाँ अभिधा से एक ही शब्द के दो या दो से अधिक अर्थ निकलें, वहाँ श्लेष अलंकार होता है यथा—

1. मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन ओटन हारी।

यहाँ मदन के दो अर्थ हैं। पहला प्रेम तथा दूसरा अहंकार रहित।

2. अखिल निरंजन सकल सरीरा।

यहाँ सकल के सम्पूर्ण तथा कला सहित दो अर्थ निकलने से श्लेष है।

3. अंधा नर आसामुखी, यों ही खोवै आब।

यहाँ आब का अर्थ मर्यादा तथा जल होने से श्लेष है।

अर्थालंकार—जहाँ अर्थ करने पर चमत्कार उत्पन्न होता है वहाँ अर्थालंकार होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति आदि इसके अंतर्गत आते हैं। कबीर के काव्य में अर्थालंकारों का प्रयोग प्रचुर रूप मे मिलता है।

उपमा—जहाँ उपमेय और उपमान मे किसी विशेष गुण के कारण समानता बताई जाय, वहाँ उपमा अलंकार होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. राती रूनी बिरहिनी ज्यों बञ्चौं को कुंज।
2. राम पियारा छांड़ि करि करै आन की आस।
   वेस्या केरा पूत ज्यों कहै कौन कूँ बाप॥

3. मन के मते न चालिये छांड़ि जीव की बानि ।
   ताकू केरे सूत ज्यों उलटि अपूठा आंनि ।।
4. कबीर माया मोहिणी जैसी मीठी खाड ।
5. पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात ।

रूपक—रूपक कबीर का प्रिय अलंकार है। रूपक में उपमेय और उपमान में अभेद आरोपित किया जाता है। कबीर रूपक बाधने में बड़े निपुण है। सांगरूपक की तो बड़ी सुन्दर योजना कबीर ने की है। जिस प्रकार तुलसी बहुत बड़े सांगरूपक के धनी हैं उसी प्रकार कबीर द्वारा आध्यात्मिक प्रेम-साधना पद्धति की कठिनाई, मन की दुराग्रही प्रवृत्ति आदि के स्पष्टीकरण के लिए जुलाहा, गढ़, मदिरा बनाने की प्रक्रिया आदि से चुने उपमान जहां एक ओर कबीर की मौलिक कल्पना शक्ति का परिचय देते हैं वहीं दूसरी ओर उनके व्यापक जीवनानुभव का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार शरीररूपी दुर्गम गढ़ पर विजय प्राप्त करने का रूपक, सांसारिक जीव की कठिनाइयों के चित्रण के लिए गाँव का रूपक, विषयों के पीछे भटकती जीवात्मा की स्थिति के लिए नृत्य का रूपक, सहस्रसार से झरते हुए अमृत रस के पान के लिए मदिरा का रूपक, साधना के लिए चौसर का रूपक, सुरति के लिए ढीकुली का रूपक आदि विशेष द्रष्टव्य हैं। एक उदाहरण देखिए—

संतो भाई आई ज्ञान की आंधी ।
भ्रम की टाटी सबै उडानी, माया रहै न बांधी ।।
हित चित की द्वै थूनि गिरानी, मोह बलीडा टूटा ।
त्रिसना छानि परी घर ऊपरि, दुरमति भांडा फूटा ।।
जोग जुगति करि संतौ बांधी निरचू चुवै न पाणी ।
कूडकपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणी ।।
आंधी पाछैं जो जल बरसै, तिहि तेरा जन भीना ।
कहै कबीर मनि भया प्रगासा उदै भानु जब चीना ।।

यहां कबीर ने ज्ञान की स्थिति को आंधी के सांग रूपक द्वारा स्पष्ट किया है।

निरंग रूपक—जहां अंगों सहित अभेद आरोपित न होकर केवल उपमेय-उपमान में ही अभेद दिखाया जाता है वहां निरंग रूपक होता है। कबीर ने निरंग रूपक का भी प्रयोग बड़े प्रभावशाली रूप में किया है। जैसे—

1. जग हटवाड़ा स्वाद ठग माया वेस्या लाइ ।
   रामचरन नीका गहो, जनि जाइ जनम ठगाइ ।।

यहां संसार को बाजार के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है।

2. काया देवल मन धजा, विषय लहरि फहराइ ।
   मन चाले देवल चलै ताका सर्बस जाइ ।।

यहां शरीर को मन्दिर के समान मानकर रूपक की सुन्दर योजना की है।

निरंग रूपक के कुछ और उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

1. रात्यूं रूनी बिरहिनी, ज्यौं बंचो कूं कुंज।
कबीर अन्तर प्रजल्या प्रगट्या बिरहा पुंज॥
2. बिरह भुवंगम पैसि करि किया कलेजे घाव।
3. अंतर कँवल प्रकासिया ब्रह्मवास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबुधिया जानैगा जन कोइ॥
4. आसा का ईंधन करूँ मनसा करूँ विभूति।

उत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। मन, मानो, जनु, जानो उसके वाचक शब्द है।

कबीर तेज अनंत का मानो सूरज सेनि।
पति संग जागी सुन्दरी कौतुक दीठा तेनि॥

विभावना—जहाँ कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है। विभावना एक प्रेरणादायक अलंकार है। अतः कबीर ने इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। बिनु, बिना आदि इसके वाचक शब्द हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

1. पंखि उड़ानी गगन को पिण्ड रहा परदेस।
पानी पीया चुंच बिनु भूलि गया यहु देस॥
2. कौतिक दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवाही दास॥
3. हदे छांड़ि बेहद भया, हुवा निरन्तर बास।
कँवल जु फूला फूल बिनु, को निरखै निजदास॥

व्यतिरेक—जहाँ उपमेय को उपमान से बढ़कर बताया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा—

1. पानी हूँ तै पातरा धूँवा हूँ तै झीन।
पवनां वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन॥

यहाँ मन को पानी से पतला और धुएँ से झीना बताया गया है।

2. जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप बासथैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

यहाँ निर्गुण ब्रह्म को पुहुप बास से भी पतला बतलाया है। अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

अन्योक्ति—जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ निकले, वहाँ अन्योक्ति अलकार होता है। कबीर ने अन्योक्ति अलंकार का बड़ा ही सुष्ठु प्रयोग किया है। यथा—

1. माली आवत देख कर कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि लई कालि्ह हमारी बार॥
2. बाढ़ी आवत देख कर तरुवर डोलन लाग।
हम काटे तुम थिर नहीं, पंखेरू घर भाग॥

प्रस्तुत उदाहरणों में माली, बाड़ी, कलियाँ, आदि अप्रस्तुतों के द्वारा जीवात्मा की अंतिम अवस्था का वर्णन करते हुए उससे शरीर की नश्वरता का आभास कराया गया है। अतः यहाँ अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के कथन होने के कारण अन्योक्ति अलंकार है।

अन्योक्ति बड़ा प्रभावशाली अलंकार सिद्ध हुआ है क्योंकि अन्योक्ति में तीव्र व्यंग्य के साथ चेतावनी का मार्मिक भाव भी छिपा रहता है। अन्योक्ति एक भविष्यवाणी की भाँति होती है जो कहती है जागो, सचेत हो जाओ, सम्भल जाओ। समय आ गया है। कबीर की उपर्युक्त अन्योक्तियों में इन सभी तत्वों को प्रभावशाली रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि इन दोनों ही अन्योक्तियों में लोकोपदेश और लोक प्रेरणा पूर्ण रूप से विद्यमान है।

रूपकातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय का लोप करके केवल उपमान का कथन किया जाय और उसी से उपमेय का अर्थ लिया जाय, वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है। यह अलंकार बड़ा ही, सजीव, मार्मिक और प्रेरणादायक होता है।

कबीर ने असीम तथा अरूप तत्व के सम्बन्ध में जब अपने विचार व्यक्त किये हैं या लौकिक प्रेम के उपमानों द्वारा आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का उल्लेख किया है, तब रूपकातिशयोक्ति सहज ही उद्‌भूत हो उठी है। कुछ उदाहरण देखिए—

1. कबीर तुरी पलानियाँ चाबुक लीया हाथि।
दिवस थका साँई मिलो, पीछे पड़िहै राति॥

यहाँ तुरी, पलान, चाबुक, दिवस, राति आदि उपमानों का ही प्रयोग किया गया है। और (मन) एकाग्रता, संयम, जीवन, मृत्यु आदि उपमेयों का तिरोभाव होने से यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

2. दीपक पावक आनिया तेल भी आना संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, उड़ि उड़ि पड़ै पतंग॥

यहाँ दीपक, पावक, तेल, पतंग, आदि उपमान क्रमशः जीव, शरीर ज्ञान, भक्ति, विषयवासना का अर्थ रखते हैं, परन्तु केवल उपमानों का ही प्रयोग होने से यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

3. रैन गई मत दिन भी जाइ।
भंवर उड़ें बग बैठे आइ॥

यहाँ रैनि, दिन, भँवर, बग आदि उपमान क्रमशः युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, काले केश, श्वेत होने के लिए आए हैं। लेकिन यहां उपमेयों का कथन न होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

4. धवणि धवन्ती रह गई बुझि गए अंगार।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा जब उठि चला लुहार॥

यहाँ धवणि, अंगार, अहरनि, लुहार, आदि उपमानों का कथन होने तथा श्वास-प्रश्वास, शरीर, जीवनतत्व तथा जीवात्मा आदि उपमेयों का प्रयोग न होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

इस प्रकार कबीर ने रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग अपने काव्य में यत्र-तत्र और प्राय: सर्वत्र किया है।

विरोधाभास—जहाँ वस्तु मे वास्तविक विरोध न होते हुए भी विरोध दिखाई देता है, वहाँ विरोधाभास अलंकार माना जाता है। यथा—

1. समुंदर लागी आगि नदियाँ जरि कोयला भईं।
   देख कबीरा जागि मच्छी रूखा चढि गईं॥

2. एक अचम्भो देखो माई,
   ठाढ़ो सिंघ चरावै गाई।
   पहले भयो पूत पीछे भई माई,
   चेला के गुरु लागै पाई।
   पकरि बिलाई मुर्गे खाई॥

कबीर के काव्य में विरोधाभास का उलटबाँसियों के रूप में प्रचुर प्रयोग मिलता है। जो बड़ा ही प्रभावशाली ज्ञानवर्धक और प्रेरणादायक है।

असंगति—जहाँ कार्य तथा कारण में स्वाभाविक संगति का अभाव होता है, वहाँ असंगति अलंकार होता है, यथा—

आगि जु लागी नीर महँ काँदो जरिया झारि।
उत्तर दखिन के पंडिता मुए बिचारि बिचारि॥

काव्यलिंग—जहाँ किसी बात को सामान्यरूप से कहकर उसका कारण भी बताया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। यथा—

1. हँसि हँसि कंत न पाइये जिन पाया तिन रोय।
   हाँसे खेले हरि मिले कौन दुहेली होय॥

2. दुलहिनी गावहु मंगलचार।
   हम घर आए हो राजा राम भरतार॥

3. माया महाठगिन हम जानी।
   त्रिगुन फाँस लिये कर डोले बोले मधुरी बानी॥

कबीर ने काव्यलिंग का प्रयोग करते हुए कथन में चमत्कार, सजीवता और प्रमाणिकता की सृष्टि की है। काव्यलिंग का कबीर के काव्य में सर्वाधिक प्रयोग मिलता है।

विशेषोक्ति—जहाँ पुष्ट कारण के होने पर भी कार्य न हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। यथा—

1. काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
2. हिरदा भीतर आरसी मुख देख्यौ नहिं जाइ।
3. कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढ़ै बन माँहि॥
4. पानी बिच मीन पियासी, मोहे सुनि सुनि आवत हाँसी।

उपर्युक्त प्रभावशाली एवं प्रेरणादायक अलंकारो के अतिरिक्त कबीरदास के काव्य मे निम्नलिखित शिक्षाप्रद , तथा उपदेशकमूलक अलंकारों का भी सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

प्रतिवस्तूपमा—

मन लागा उनमन्न सों उनमन मनहि विलग।
लौन विलग्गा पानियाँ पानी लौन विलग ॥

निदर्शना—

कबीर हरदी पीयरी चूना उज्जल भाइ।
राम सनेही यूँ मिलैं दोनउं बरन गँवाइ ॥

भ्रान्तिमान—

आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जानें दुखड़ियाँ।
राम सनेही कारने, रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥

दृष्टान्त—

1. सिंहो के नही लँहड़े हंसो की नही पाँति।
लालों की नही बोरियाँ साधु न चले जमात ॥
2. पंडित वाद बदन्ते झूठा,
राम कहयां दुनिया गति पावै।
खांड कहयां मुख मीठा,
पावक कहयां पाव जे दाझै ॥
जल कहि, तिपा बुझाई,
भोजन कहया भूख जे भाजै।
तो सब कोइ तिरि जाई ॥

अर्थान्तरन्यास—

मन जानै सब बात जानत ही औगुन करै ॥
काहे की कुसलात कर दीपक कूवैं पड़ै ॥

तद्गुण—

विरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाउँ।
मों देखा जलहरि जलै संतो कहा बुझाउँ ॥

विनोक्ति—

सबकौं बूझत मैं फिरौ रहनि कहै नहिं कोय।
प्रीति न जोड़ै राम सौं रहनि कहाँ तैं होय ॥

उदाहरण—

जप तप दीसै थोथरा तीरथ व्रत बसोस।
सूवै सैंबल सेविया यों जग चला निरास ॥

उल्लेख—

मन गोरख मन गोविन्द, मन ही ओघड़ होइ।
जो मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ॥

स्वाभावोक्ति—

1. मन जाने सब बात जानत ही औगुन करे।
2. मन के मते न चालिये, छांड़ जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि॥
3. सासत ऐसा जानिये जैसी लहसुन की खानि।
कोने बैठे खाइए परगट होइ निदान॥
4. दोष पराए देख करि चला हसंत हसंत।
अपने चित्त न आवहिं जाको आदि न अंत॥

अपह्नुति—

1. सासत बाम्हन मति मिलौ बैष्नो मिले चाण्डाल।
अंकमाल दे भेंटिए मानो मिले गोपाल॥
2. साकत संग न कीजिए दूरहि जहिये भागि।
बासन कारो परसिये तऊ कछु लागै दाग॥

उपर्युक्त विवेचन से कबीर की अलंकार योजना का परिचय मिल जाता है। कबीर के अलंकार प्रयोग को देखकर ऐसा लगता है कि कबीर ने 'सौन्दर्यमलंकारम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए अलंकारों को परम उपयोगी सिद्ध कर दिया है। कबीर का एक-एक अलंकार प्रयोग, चाहे वह शब्दालंकार हो या अर्थालंकार, ज्ञान, भक्ति, सदाचार नीति, शिक्षा, प्रेरणा और जन-सुधार की भावना को अधिक तीव्र करने के लिए ही हुआ है। कबीर ने कोरे चमत्कार, पांडित्यप्रदर्शन और बाह्याडम्बर की दृष्टि से कहीं भी अलंकार नहीं रखे हैं। उनका प्रयोग सहज रूप में ही अनजाने नीति, शिक्षा और प्रेरणा-दायक के रूप में होता रहा है। जैसे दूध में जल मिलकर तद्रूप हो जाता है, नमक और जल तथा चीनी और पानी मिले होने पर भी बाह्यरूप से क्रमशः केवल दूध और जल मात्र ही दिखाई देते हैं, चखने पर ही उनका स्वाद ज्ञात होता है। उसी प्रकार कबीर की भाषा में अलंकार कहीं भी पृथक दिखाई नहीं देते बल्कि उपयोग करने पर ही उनका स्वाद जाना जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीरदास एक ऐसी महान् प्रतिभा के धनी कवि थे और भाषा पर उनका ऐसा जबर्दस्त अधिकार था कि उनके काव्य में सौन्दर्य उद्बोधन के लिए अलंकार स्वतः ही जल में नमक की भाँति मिलकर अनायास प्रविष्ट होते रहे हैं।

गीति शैली

छंद कविता को बांधने का कार्य करता है। छंद कविता को सजाता संवारता और उसमें प्राण फूंकता है। छंद कविता को लय प्रदान करता है। यद्यपि कबीर पढ़े-लिखे न थे फिर भी उनके काव्य में विविध छंदों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। साखी, पद, रमैनी, बावनी, चांचीरा, हिंडोला आदि छंदों में कबीर की रचना का निर्माण हुआ है। साखी, पद और रमैनी कबीर के मुख्य छंद हैं।

साखी—साखियाँ कबीर की रचनाओं में सर्वाधिक हैं। कबीर ने सच्चा मार्ग सुझाने के लिए साखियों के महत्व को बार-बार दोहराया है। उन्होंने कहा है—

साखी आंखी ज्ञान की, समुझि देखु मनमाहिं।
बिन साखी संसार को, झगरा छूटत नाहिं॥

साखी शब्द दोहा नामक छंद का पर्याय है। लेकिन कबीर के काव्य में केवल दोहा छंद ही दिखाई नहीं देता बल्कि इसके अन्तर्गत उन्होंने दोहा, सोरठा, चौपाई, उल्लाला, गीत तथा सार जैसे अनेक छंदों का भी समाहार कर लिया है। अतः कबीर के सन्दर्भ में साखी शब्द को केवल दोहे का पर्याय मानना भ्रामक होगा। साखी से कबीर का तात्पर्य विषय की गरिमा से है नाकि छंद विशेष से। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दोहे में विषम चरण में 13 मात्राएं तथा सम चरण में 11 मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) तथा सम चरणों के अंत में गुरु लघु (ऽ।) नहीं होता। कबीर ने दोहे का बहुत प्रयोग किया है।

मन के मते न चालिये छाड़ि जीव की बाणि।
ताकू केरे सूत ज्यो, उलटि अपूठा आणि॥

एक सोरठा का उदाहरण देखिए।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूं मारि, सर बिन सच पाऊं नहीं॥

यह छंद दोहे का उलटा है। इसके विषम चरण में 11 मात्राएं और सम चरण में 13 मात्राएँ होती हैं।

यहां एक बात विचारणीय यह है कि कबीर के छंद छंदशास्त्रीय विधान पर खरे नहीं उतरते। उनकी मात्राएं पूरी नहीं बैठती। कहीं मात्राएँ कम हैं तो कहीं अधिक।

पद—कबीर का दूसरा प्रमुख छंद पद है। कबीर के पद गेय, सुन्दर, भावपूर्ण व शिक्षाप्रद हैं। एक पद द्रष्टव्य है—

राम भगति अनियाले तीर।
जेहि लागे सो जाने पीर॥टेक॥
तनु माहि खोजों चोट न पावौं।
ओषद मूर कहां घसि लावौं॥
एक भाइ दीसे सब नारी।
ना जानौं को पियहि पियारी॥

कहे कबीर जाके मस्तिक भाग।
सम परिहरि ताको मिलै सुहाग॥

रमैनी—रमैनी कबीर का तीसरा प्रमुख छंद है। रमैनियाँ चौपाई छंद में लिखी गई हैं। इनमे कुछ रमैनियाँ ऐसी है जिनके अन्त में एक-एक साखी उद्धृत की गयी है।

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बंधे बधा सब कोई।
जेहि जूठे बंधाय अयाना, झूठी बात सांच कै जाना।
धंधा बंधा किन्ह बेवहारा, करम बिवरजित बसैं निभारा।
पट आश्रम पट दरसन कीन्हा, पटरस बास पट वस्तुहि चीन्हा।
चारि वृक्ष छव साख बखानै, विद्या अगनित गनै न जानै।
अवरो आगम करैं विचारा, ते नहिं सूझै वार न पारा।
जप तीरथ व्रत कीजै पूजा, दान पुण्य कीजै बहु दूजा।

साखी—

मन्दिर तो है नेह का, मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धायके, बिनु सिर सेंतिहि जाय॥

गीति शैली

कबीर का छंद विधान पूर्णतया गीतिमूलक है। कबीर की साखियाँ, सबद तथा रमैनी पूर्ण स्वरात्मक तथा लयात्मक है। कबीर के गीतों मे गीति शैली के सभी तत्व विद्यमान है। सक्षेप में कबीर के गीतों की विशेषताएँ यहाँ वर्णित हैं।

स्वानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति

गीति काव्य स्वानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति पर आधारित रहता है। कबीर ने अपने काव्य में जो कुछ कहा है वह किताबों की नकल नही, स्वय का अनुभव है। कबीर पढ़े लिखे नही थे, लेकिन उनमे प्रतिभा की कमी नहो थी। उन्होने अपने अनुभवों, अपने ज्ञान से जो कुछ संसार में देखा, उस पर विचार किया और सार को ग्रहण करते हुए उन्हें अपने मुख से कहकर लोगों तक पहुँचाया है। यही कारण है कि उनके वाक्य अखण्ड व अकाट्य हैं। वे तर्क की खराद पर खरे उतरते हैं। कबीर ने स्वयं कहा है—

'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।'

कबीर ज्ञानी व संत थे। उन्होंने संसार में भेदभाव व अज्ञानता की स्थिति को देखा और ईश्वर, जीव, जगत्, माया, समाज, धर्म, देश, काल आदि से सम्बन्धित स्वानुभूत उक्तियों को काव्य मे कहा और जनता तक पहुँचाया। माया को एक प्रपंच और छल कहा गया है। कबीर ने इसे स्वयं देखा व उसके सम्बन्ध में अपने अनुभवों को इस प्रकार व्यक्त किया—

1. माया महा ठगिनी हम जानी।
त्रिगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी॥
पंडा के मूरत होइ बैठी, तीरथ हू में पानी।
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी॥
काहू के हीरा होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी॥

2. कबीर माया पापिणी फन्द ले बैठी हाट।
सब जग तो फंदे पड्या गया कबीरा काट॥

3. माया मुई न मन मुआ मरि मरि गया शरीर।
आसा तृष्णा न मुई यों कहि गया कबीर॥

माया से सम्बन्धित उपर्युक्त उक्तियों में कबीर ने माया के स्वरूप का सटीक व यथार्थ वर्णन किया है।

रसात्मकता व भावप्रवणता

रसात्मकता और भावात्मकता गीति काव्य में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। हिन्दी गीति-काव्य के प्रधान रस शान्त और शृंगार ही है। कबीरदास ने भी शान्त रस मूलक पद लिखे हैं। इनके पदों में ज्ञान, भक्ति, उपदेश, संयम, सदाचार, त्याग, वैराग्य, अहिंसा, दर्शन, माया की कराळता को समझकर उसका त्याग, मोक्ष तथा तप, योग आदि निर्वेद मूलक पक्षों का बड़ा ही रसात्मक चित्रण मिलता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. हमारे राम रहीम करीमा,
कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै,
और न दूजा कोई॥

2. मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौन क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

प्रस्तुत दोनों पदों में शान्त रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। दोनों पदों में ईश्वर के सर्वव्यापक तथा विविध नामों से सम्बोधित एक ही रूप का निरूपण है। ये दोनों ही पद पूर्णतया ज्ञानमूलक हैं अतः स्थायी भाव—निर्वेद, आलम्बन—ब्रह्म, उद्दीपन—जीवन की विषम परिस्थितियों तथा बाह्याचार आदि, अनुभाव—ईश्वर का विविध रूपों में कथन, संचारीभाव—वियोग, शंका, चिन्ता, तर्क, वेग, उत्सुकता आदि हैं। ये पद साम्प्रदायिक एकता के प्रतीक हैं और साधना की वास्तविक प्रक्रिया के द्योतक भी।

1. यह जग अंधा मैं केहि समुझावों।
इक दुई हो उन्हें समुझावों सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी के घोड़ा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओस के बुंदा।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा।।
घर की वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारि के ढूढत अंधा।
लागी आग सकल बन जरिगा बिन गुरुग्यान भटकिया बंदा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो इक दिन जाय लंगोटी झार बंदा।

2. साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौं तो मारन धावै, झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत, राम हमारा, मुसलमान रहमाना।।
आपस में दोऊ लड़ै मरतु है, मरम कोइ नहिं जाना।
बहुत मिले मोहि नेमी-धर्मी, प्रात करै असनाना।।
आतम छांड़ि पषानै पूजें, तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।।
पीपर-पाथर पूजन लागे, तीरथ-बरत, भुलाना।
माला पहिरे, टोपी पहिरे, छाप-तिलक अनुमाना।।
साखी सब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना।
घर-घर मंत्र जो देन फिरत है, माया के अभिमाना।।
हिन्दू की दया, मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह, वाँ झटका मारै आग दोऊ घर लागी।।
या विधि हँसत चलत है हमको, आप कहावै स्याना।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, इनमें कौन दिवाना।।

ये दोनो ही पद पूर्णतया गेय हैं और इनमें तत्कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए माया में लिप्त समाज के धार्मिक आडम्बरों का वर्णन किया गया है। जिससे ज्ञान की प्राप्ति हो सके अतः निर्वेद स्थायी भाव होने के कारण यह पद भी शान्त रसात्मक है।

माधुर्य—गेय पदों में प्रायः माधुर्य रस की ही प्रधानता होती है। क्योंकि ये पद स्वर, ताल, लय के साथ-ही-साथ शान्त, शृंगार, करुण आदि रसों से युक्त होते हैं। कबीर के गेय पदों में भी माधुर्य गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। इसीलिए इनकी भाषा में संयुक्ताक्षर द्वितवर्ण तथा टकारादि कठोर वर्णों के प्रयोग नहीं मिलते। उनके स्थान पर कोमल वर्ण, सकारादि तद्भव पदावली आदि का बाहुल्य है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

नाही धर्मी नाही अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो।।
ना मैं बधा ना मैं मुक्ता, ना मै बिरत न रंगी हो।
ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो।।
ना हम नरक-लोक को जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो।
सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मनतें न्यारे हो।।

मार्मिकता, गम्भीरता प्रेरणादायकता

गेय पदों में मार्मिकता, गम्भीरता, प्रेरणादायकता भी अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। क्योंकि ये पद बड़े लोकप्रिय होते हैं और सहास्त्रों दर्शकों के सामने गाये जाते हैं, जिन्हें सुनकर सभी दर्शक गम्भीर होकर जीवन और जगत् के रहस्य को समझते हुए असत् के त्याग और सत् के ग्रहण की प्रेरणा लेते हैं। कबीर के पदों में मार्मिकता, प्रेरणादायकता, सजीवता के गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

1. इस घट अन्तर बाग बगीचे, इसी में सिरजनहारा।
इस घट अन्तर सात समुन्दर, इसी में नौ लख तारा।
इस घट अन्तर पारस मोती, इसी में परखनहारा।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसी में साईं हमारा।

2. मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मन्दिर में बैठे।
ब्रह्म-छाड़ि पूजन लागे पथरा।।
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले।
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।।

3. सुवटा डरपत रहु भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूंधे इक दिन में कबहुँ खता खवाई।।
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनियाँ डहकाई।
राणां-राव रंक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई।।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाषौं माँहि तै लेत अचानक, काहू न देत दिखाई।।

रमणीयता और रोचकता—गेय पद बड़े रोचक और रमणीय होते हैं। ज्ञान, शिक्षा और प्रेरणा आदि के साथ ही साथ इनमें मनोरंजकता भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। यही कारण है कि इन्हें गाने और सुनने वाले दोनों ही गाते समय झूम उठते हैं। कबीर के पदों में रोचकता और रमणीयता के पद भी पूर्णतया विद्यमान हैं।

अवधू कुदरति की गति न्यारी।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी।।
ये ते लवंगहि फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूलै।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में सिंह समुद्रहि झूलै।।
रेंड़ा रूख भया मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटी बासा।
तीन लोक ब्रह्मांड खंड में देखै अँध तमासा।।

नाद सौन्दर्य अथवा गेयता

"स्वर ताल लयाधिक्यं गीतम्" अर्थात् स्वर, ताल और लय के बंधन को गीत कहते

है। कबीर के गीतों में गेयता कूट-कूट कर भरी हुई है। स्वर, ताल और लय का बंधन कबीर के पदों में मिलता है। कोमलता, मधुरता, रसात्मकता, भावुकता से गेयता में सजीवता और तन्मयता बढ़ जाती है। कबीर के पदों में सभी तत्व विद्यमान हैं। यही कारण है कि अन्य गीतिकारों की भाँति कबीर के पद भी वाद्ययंत्रों पर बराबर गाये जाते हैं। टी० वी०, रेडियो पर कबीर के गीतों को पूर्ण गेयता के साथ गाया जाता है। मीरा और सूर के बाद कबीर का ही स्थान है, जिनके गीत वाद्ययंत्रों पर गाये जा सकते हैं। कबीर के पदों में राग, टेक आदि का भी पूर्ण योग मिलता है। इससे वे और भी सुलभ हो गये हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोलें।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले।
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घरमाहीं, बाहर नैना क्यों खोले।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिलअले।

मुक्तकता—मुक्तक से तात्पर्य है—बंधन से मुक्ति। मुक्तक में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक छंद मुक्त होता है। यह अपने पूर्व के या बाद के छंद से जुड़ा नहीं रहता। वह स्वतन्त्र रहता है। मुक्तक रचना में उन्मुक्त भावों का ही चित्रण रहता है। अतः मुक्तक की शैली भी प्रबन्ध से भिन्न रहती है।

कबीर के सभी पद अपने अर्थ में स्वतन्त्र हैं। कबीर के पदों में स्वानुभूत भावों की तीव्रता, सामाजिक परिस्थितियाँ, भक्ति भावना, ज्ञान साधना आदि का ही निरूपण किया है। अतः वे भक्त हृदय को आप्लावित करते हैं।

कबीर के पदों में विषय वैविध्य तो मिलता ही है। साथ ही भावों और विषय की पुनरावृत्ति भी स्थान-स्थान पर होती दिखायी देती है, किन्तु पाठक को पुनरावृत्ति नहीं खलती। उसे जो पद अधिक उत्तम व प्रभावशाली लगता है, उसी को वे गाने और सुनने के प्रयोग में लाते हैं।

संक्षिप्तता—गेय पदों में संक्षिप्तता भी विद्यमान रहती है क्योंकि यहाँ एक-एक शब्द चुन-चुनकर रखा जाता है और अनेक विषयों को एक छोटे से पद में मोतियों की लड़ी की भाँति पिरो दिया जाता है। गीत में कहीं भी अशक्त और फालतू शब्द नहीं आने पाते। भाषा पूर्णतया सुगठित और समासपूर्ण होती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. साधो यह तन ठाठ तंबूरे का।
ऐंचत तार मरोरत खूंटी, निकसत राग हजूरे का॥
टूटे तार मरोरत खूंटी, निकसत राग हजूरे का।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई सूरे का॥

प्रस्तुत पद में कबीरदास ने बिल्कुल नपे-तुले शब्दों में शरीर की नश्वरता, साधना

का मार्ग, सांसारिक बंधन आदि विशाल और महत्वपूर्ण तत्वों का सारगर्भित वर्णन प्रस्तुत किया है। इतने बड़े विषय के लिये इससे कम शब्द और क्या हो सकते हैं।

सरलता—सरलता गेय पदों की सफलता की कुंजी है। भट्टनायक ने रसाम्वाद के लिए अभिधा का होना अनिवार्य बताया है। और चूंकि गेय पद पूर्णतया रसात्मक होते है अत. रस बोध के लिए सरलता का होना आवश्यक है, जिससे पद का अर्थ समझते हुए साधारण से साधारण पाठक भी रसात्मक आनन्द के समीप पहुंच सके। यद्यपि कबीरदास की कुछ उलटबासियों में रूपकातिशयोक्ति मूलक प्रतीकों के कारण सरलता का अभाव सा लक्षित होता है परन्तु यह कथन केवल आरोप मात्र ही है। वास्तविकता यह है कि कबीर का साहित्य लोक भाषा में रचा गया है और उसका प्रत्येक शब्द चाहे वह वाचक, लक्षक या प्रतीकात्मक हो क्यों न हो जन-जन के मन में रमा हुआ है। यही कारण है कि कबीर के गेय पदों में सरलता लक्षित होती है। एक उदाहरण देखिए—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काठ की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ औ झांखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

प्रभावोत्पादकता—गेय पद बड़े ही प्रभावशाली होते हैं। इन्हें गाने सुनने और पढ़ लेने के पश्चात् भी इनकी अमिट छाप हृदय पर जम जाती है। इसीलिए कुछ लोगों को निरंतर सोते जागते, उठते-बैठते उन पदों को गाते हुए देखा जाता है। कबीरदास के पदों में भी प्रभावोत्पादकता पूर्ण रूप में विद्यमान है क्योंकि कोई कबीर के किसी पद को कहीं सुन लेता है तो उसे वर्षों तक गुनगुनाता रहता है। अभी हाल ही में टी० वी० पर 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक दिखाया गया था। इस नाटक में कबीर के जो पद गाये गये थे वे इतने प्रभावशाली है कि दर्शक उन्हें भूल नहीं पाते और निरन्तर गुनगुनाते रहते हैं।

सत्यं शिवं और सुन्दरम्—काव्य के अन्तर्गत सार्वभौम सत्य पर आधारित लोकजीवन से सम्बद्ध तत्वों का निरूपण रहता है। उसमें सत्वगुण से उद्भूत रस भी विद्यमान रहता है। यही कारण है कि काव्य देश काल की सीमाओं से परे सत् तत्व का निरूपक होता है। काव्य में नीति, शिक्षा, उपदेश, ज्ञान और प्रेरणा भी अनिवार्य रूप में विद्यमान रहती है। इसीलिए काव्य उपयोगी या शिव होता है। काव्य में मनोरजन, आकर्षण और प्रभावोत्पादकता का भी पूर्ण परिपाक रहता है। अतः वह सुन्दर भी होता है। गेय पदों में भी ये सभी तत्व विद्यमान रहते है। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कबीर के गेय पदों में लोक जीवन से सम्बद्ध सत्य, दर्शन, जीवन-दर्शन, समाज-दर्शन, सदाचार, शिक्षा, प्रेरणा और उपदेश, ज्ञान और भक्ति, अलौकिक आनन्द और मोक्ष आदि के सभी सत् तत्व विद्यमान हैं। इसीलिए इनके गेय पद परम उपयोगी और आकर्षक हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर के गीतों में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का पूर्ण परिपाक हुआ है।

कबीर और तुलसी

कबीरदास और तुलसीदास भक्तिकाल के ऐसे दो प्रकाश स्तम्भ है जिन्होने न केवल भक्तिकाल को, बल्कि प्रत्येक युग को अपनी लेखनी से वे रत्न दिये, जो उनके मार्ग को प्रकाशित करते रहेंगे। कबीरदास ज्ञानमार्गी शाखा के महान् तथा सत कवि है और तुलसीदास राममार्गी शाखा के आदर्श कवि। दोनों का मार्ग भिन्न है, आधार भिन्न है किन्तु प्राण एक है, आत्मा एक है। आवाज एक है। दोनों मे बाह्य भेद दिखाई देता है, लेकिन सात्विक अन्तर नही है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा(प्राण)जो उसमे सचरित है वह एक ही होती है, किन्तु उसकी शारीरिक बनावट, बाह्य ढांचा उन्हे अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार कबीर और तुलसी भी मनुष्य की भांति बाह्य रचनाकार से भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु आत्मा या आंतरिक सिद्धांत दोनों के एक ही है।

कबीर अद्वैतवादी सिद्धात को मानने वाले है और तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धात को। दोनों ही रामानन्द के शिष्य है। दर्शन, समाजवादी धारणा, ज्ञान और भक्ति, सदाचार, संयम, गुरु की महत्ता आदि सभी तत्वों का दोनो ने गम्भीरता से विचार किया है। नीचे हम दोनों की ही समानताओ-असमानताओं का विवेचन कर उनकी महत्ता पर प्रकाश डालेंगे।

दर्शन—जैसा कि हमने स्पष्ट किया है कबीर अद्वैतवादी सिद्धान्त को मानने वाले थे। इसी आधार पर कबीर ने अपने दर्शन की व्याख्या की है। दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर, जीव, जगत्, माया तथा मोक्ष आदि से सम्बन्धित व्याख्या की जाती है। कबीर ने 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्म जीवैवना पर:' के सिद्धांत के आधार पर ब्रह्म को सत्य माना है तथा जगत् को असत् माना है। जीव को ब्रह्म से अलग नही माना है, लेकिन जीव माया के बंधन मे बंधकर ईश्वर से अलग दिखाई देता है और अस्तित्व का ज्ञान होने तथा माया का पर्दा हट जाने पर जीव पुन: ईश्वर मे मिल जाता है और ब्रह्ममय हो जाता है। कबीर ने ईश्वर को निर्गुण रूप मे स्वीकार किया है।

निर्गुण राम जपहु रे भाई।

कबीर ने ईश्वर को राम, केशव जैसे सगुण नामों से सम्बोधित किया है, किन्तु कबीर के राम सगुणोपासक राम से भिन्न है। सगुणोपासक राम दशरथ के पुत्र हैं। दुष्टों का विनाश करने व साधुओं की रक्षा करने के लिए वे पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, जबकि कबीर के राम न तो दशरथ के पुत्र है और न रावण जैसे अत्याचारी का वध करने वाले परम मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं वे तो इन सब बातों मे परे हैं। कबीर का स्पष्ट कथन है—

ना दशरथ घर औतर आवा,
ना लका का राव सतावा॥

कबीरदास का राम सांसारिक व्यवहारो से अधिक अगम, अपार है।

कहैं कबीर बिचारि करि ये ऊपर ले व्यवहार।
याही थैं जे अगम हैं सो वरति रह्या संसार॥

इस प्रकार राम आदि प्रचलित शब्दो को कबीर ने सर्वव्यापक ईश्वर के रूप मे प्रयुक्त किया है, पौराणिक अवतार के रूप में नही। उन्होंने कहा है—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

वस्तुतः जब कबीरदास निर्गुण भगवान् का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान् के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है परन्तु निर्गुण से वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है। वस्तुतः वे भगवान् को सत्, रज और तमो गुणों से अतीत मानते हैं और इसी गुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते हैं। उन्होंने कहा—

संतो धोखा कासूँ कहिये।
गुन मे निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाड़ि क्यों रहिये।।
अजर अमर कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यो समाई।।
प्यंड-ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छाड़ि जे कहिये, कहै कबीर हरि सोई।।

कबीर के निर्गुण राम इसी प्रकार के हैं। यद्यपि वे निर्गुण हैं तथापि उनकी उपासना की जा सकती है। यद्यपि वह अरूप है, निराकार हैं, निर्विशेष है तथापि भक्त उससे एकमेव होकर मिल सकता है। वह उसके प्रेम का विषय है क्योंकि वह अरूप प्रत्येक रूप में, प्रत्येक आकार में, प्रत्येक शरीर में रम रहा है। वह भावाभाव, विनिर्मुक्त है और प्रेम द्वारा सहज ही उससे मिलन हो जाता है।

उनका राम वह है जो सनातन तत्व है। वह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं रेख नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, पवन भी नहीं, वह समस्त दृश्यमान पदार्थों विलक्षण, सबसे न्यारा, समस्त वेदों से अतीत, भेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से विवर्जित, अनुपम त्रैलोक्य विलक्षण परम तत्व है। वह ब्रह्म व्यापक है सबमें एकभाव से व्याप्त है। ये जो नाना भाँति का प्रपंच दिखाई दे रहा है, सब उसी का रूप है। सारा खलिक ही खालिक है खालिक ही खलक है।

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक मे खालिक सब घट रह्यो समाई।।

स्पष्ट है कि तुलसी और कबीर के राम में निर्गुण और सगुण का ही तात्विक अंतर है, वैसे सब बातें समान हैं। निर्गुण की साधना कठिन है और सामान्य जन के लिए उसे समझना टेढ़ी खीर था इसीलिए एक सरल रूप निर्धारित कर उसकी उपासना का तुलसी ने बतलाया इससे जन-मन में ईश्वर की एकमूर्ति बन गयी और अर्चना-वंदना करते उसका मन शान्तावस्था को प्राप्त कर सकता था। तुलसी ने निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं माना और दोनों रूपों को स्वीकार किया है।

1. जय राम रूप अनूप निर्गुण सगुण गुण प्रेरक सही।
2. अगुनहिं सगुनहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

अतः स्पष्ट है कि कबीर ने निर्गुण को अपनाते हुए सगुण की पूर्णतया अवहेलना नही की और तुलसी ने सगुण को अपनाते हुए भी निर्गुण सगुण मे कोई भेद नही माना।

कबीर ने आत्मा को परमात्मा का ही अंश माना है। माया दोनो को अलग करने का कारण है। साधना, और ज्ञान की स्थिति दोनों को मिलाने का कार्य करती है। माया के बंधन में फंसा जीव जब साधना के द्वारा वास्तविक स्थिति को जान लेता है तब वह माया के आवरण को हटाकर ब्रह्म में विलीन 'अहं ब्रह्मास्मि' हो जाता है। कबीर ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि मिलाना, यह तथ कथ्यो गियानी।।

तुलसी ने भी जीव की इसी स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी चेतन अमल सहज सुखरासी।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परिगई, जदपि मृषा छूटत कठिनाई।
तब ते जीव भयो संसारी, छूटहि ग्रंथ न होय सुखारी।।

जीव ईश्वर का ही अंश है, परन्तु माया के अधीन है और ब्रह्म माया के स्वामी है।

हो जग जीव ईश रघुराया, तुम मायापति हो वशमाया।

जगत को कबीर और तुलसी दोनो ने ही क्षणभंगुर, मिथ्या, नाशवान् माना है।

1. पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
   देखत ही छिप जाएगा ज्यो तारा परभात।। (कबीर)

2. झूठो है झूठो है झूठो है सदा जग,
   संत कहंत जे अंत लहा है।। (तुलसी)

कबीर ने माया को असत् माना है। वह लोभ में फँसाने वाली है।

1. मीठी मीठी माया तजी न जाई। अज्ञानी पुरुष को घोल-घोल खाई।।
2. माया ऐसी मोहिनी जैसी मीठी खांड।

यह माया रघुनाथ की चेरी है। बड़े-बड़े महापुरुष, मुनि, जोगी-जती इसके चक्कर से नही बच पाये, फिर एक सामान्य आदमी की क्या बिसात ?

यह माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़।
चतुर निकारे चुनि चुनि मारे कोई न छोड्या नेड़े।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।
जंगल मांही के जंगम मारे, तू रे फिरै बलबंतो।।

तुलसी ने भी माया को असत् माना है। स्त्री-पुरुष, जमीन सब मोह है, माया है। तुलसी ने कहा है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूल रे,
धूंआ के से धौर हर देखि मत भूल रे।

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

वस्तुतः जब कबीरदास निर्गुण भगवान् का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान् के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है परन्तु निर्गुण में वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है। वस्तुतः वे भगवान् को सत् रज और तमो गुणों से अतीत मानते हैं और इसी गुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते हैं। उन्होंने कहा—

संतो धोखा कासूं कहिये।
गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाड़ि क्यों रहिये॥
अजर अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।
नाति स्वरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यो समाई॥
प्यड-ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यड ब्रह्माण्ड छाड़ि जे कहिये, कहै कबीर हरि सोई॥

कबीर के निर्गुण राम इसी प्रकार के है। यद्यपि वे निर्गुण हैं तथापि उनकी उपासना की जा सकती है। यद्यपि वह अरूप है, निराकार है, निर्विशेष है तथापि भक्त उससे एकमेव होकर मिल सकता है। वह उसके प्रेम का विषय है क्योंकि वह अरूप प्रत्येक रूप में, प्रत्येक आकार में, प्रत्येक शरीर में रम रहा है। वह भावाभाव, विनिर्मुक्त है और प्रेम द्वारा सहज ही उससे मिलन हो जाता है।

उनका राम वह है जो सनातन तत्त्व है। यह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेख नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, पवन भी नहीं, वह समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा, समस्त वेदों से अतीत, भेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से विवर्जित, अनुपम त्रैलोक्य विलक्षण परम तत्त्व है। वह ब्रह्म व्यापक है सबमें एकभाव से व्याप्त है। ये जो नाना भांति का प्रपंच दिखाई दे रहा है, सब उसी का रूप है। सारा खलिक ही खालिक है खालिक ही खलक है।

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक मे खालिक सब घट रह्यो समाई॥

स्पष्ट है कि तुलसी और कबीर के राम मे निर्गुण और सगुण का ही तात्विक अंतर है, वैसे सब बातें समान है। निर्गुण की साधना कठिन है और सामान्य जन के लिए उसे समझना टेढ़ी खीर था इसीलिए एक सरल रूप निर्धारित कर उसकी उपासना को तुलसी ने बतलाया इससे जन-मन में ईश्वर की एकमूर्ति बन गयी और अर्चना-वंदना करके उसका मन शान्तावस्था को प्राप्त कर सकता था। तुलसी ने निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं माना और दोनों रूपों को स्वीकार किया है।

1. जय राम रूप अनूप निर्गुण सगुण गुण प्रेरक सही।
2. अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

अत: स्पष्ट है कि कबीर ने निर्गुण को अपनाते हुए सगुण की पूर्णतया अवहेलना नही की और तुलसी ने सगुण को अपनाते हुए भी निर्गुण सगुण मे कोई भेद नही माना।

कबीर ने आत्मा को परमात्मा का ही अंश माना है। माया दोनो को अलग करने का कारण है। साधना, और ज्ञान की स्थिति दोनों को मिलाने का कार्य करती है। माया के बंधन में फंसा जीव जब साधना के द्वारा वास्तविक स्थिति को जान लेता है तब वह माया के आवरण को हटाकर ब्रह्म मे विलीन 'अहं ब्रह्मास्मि' हो जाता है। कबीर ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

जल मे कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं मिलाना, यह तथ कथ्यो गियानी ।।

तुलसी ने भी जीव की इसी स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी चेतन अमल सहज सुखरासी।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परिगई, जदपि मृषा छूटत कठिनाई।
तब ते जीव भयो संसारी, छूटहि ग्रंथ न होय सुखारी ।।

जीव ईश्वर का ही अंश है, परन्तु माया के अधीन है और ब्रह्म माया के स्वामी हैं।

हो जग जीव ईश रघुराया, तुम मायापति हो वशमाया।

जगत को कबीर और तुलसी दोनों ने ही क्षणभंगुर, मिथ्या, नाशवान् माना है।

1. पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
देखत ही छिप जाएगा ज्यो तारा परभात ।। (कबीर)

2. झूठो है झूठो है झूठो है सदा जग,
संत कहंत जे अंत लहा है ।। (तुलसी)

कबीर ने माया को असत् माना है। वह लोभ में फँसाने वाली है।

1. मीठी मीठी माया तजी न जाई। अज्ञानी पुरुष को घोल-घोल खाई ।।

2. माया ऐसी मोहिनी जैसी मीठी खांड।

यह माया रघुनाथ की चेरी है। बड़े-बड़े महापुरुष, मुनि, जोगी-जती इसके चक्कर से नही बच पाये, फिर एक सामान्य आदमी की क्या बिसात ?

यह माया रघुनाथ की खेलन चली अहेड़।
चतुर निकारे चुनि चुनि मारे कोई न छोड्या नेडे।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।
जगल मांही के जंगम मारे, तू रे फिरै बलवंती ।।

तुलसी ने भी माया को असत् माना है। स्त्री-पुरुष, जमीन सब मोह है, माया है। तुलसी ने कहा है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूल रे,
धूंआ के से धौर हर देखि मत भूल रे।

बूड़्यौ मृग बारि खायो जेवरी को सांप रे।
सोवत सपनेहु लहै संसृति संताप रे।

तुलसी ने रामचरितमानस में मेरे-तेरे, अपने-पराये के भाव को माया कहा है। यह माया ही निराकार जीव को अपने वश में किये रहती है।

मैं अरु मोर तोर तें माया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।

जहाँ तक संसार का विस्तार दिखाई देता है, वह सब माया का ही रूप है। तुलसी के शब्दों में—

गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।

माया से उद्धार तभी हो सकता है जब भगवान की शरण में जायें। काम, क्रोध, लोभ आदि का त्याग करें। वैराग्य और संयम से काम लें।

सभी भारतीय संतो और ज्ञानियों ने माया में फँसे हुए जीव के माया से मुक्त होने व ईश्वर का ज्ञान होने को मोक्ष कहा है। मनुष्य की देह धारण करके मोक्ष की प्राप्ति का उपाय अवश्य करना चाहिए। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और भक्ति की साधना द्वारा होती है।

बिन हरि भजन न मुक्ति होई, कहत कबीरा कोई।

यह हरि भजन ज्ञान से उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान ही मोक्ष है।

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बाँधी।।
कूड़ कपट काया का निकस्या हरि की गति जब जाणी।

तुलसी ने भी मोक्ष के लिए रामभक्ति को ही अनिवार्य बताया है।

राम भजति सोई मुकुति गोसाईं। मन इच्छित आवत बरियायी।।

इस प्रकार कबीर और तुलसी दोनों की दार्शनिक मान्यताएँ समान है।

साधना पद्धति (ज्ञान और भक्ति का समन्वय)

कबीर और तुलसी दोनो संत थे, योगी थे। दोनों ने ही भक्ति, ज्ञान और सदाचार को उपासना के लिए अनिवार्य माना है। केवल भक्ति बिना ज्ञान के अनाचार में पहुँच जाती है और बिना भक्ति के ज्ञान नीरस लगता है।

कबीर ने साधना पक्ष में ज्ञान को मूल स्थान प्रदान किया है लेकिन संयम, सदाचार, सत्संग, स्मरण आदि भक्ति के तत्वों को भी अनिवार्य माना है।

तुलसी ने भक्ति और ज्ञान को महत्ता प्रदान की है लेकिन प्रतिष्ठा भक्ति की ही की है। कोरे ज्ञान को तुलसी निरर्थक मानते हैं—

जे अस भगति जानि परिहरहीं, केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी, खोजत आकु फिरहिं पय लागी।।

कबीर ने बिना ज्ञान के भक्ति को नही स्वीकारा है।

बिना थमीले चाकरी, बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान को जोगना, फिरै लगाये खेह।।

इस प्रकार तुलसी भी कबीर की भांति दोनों के महत्व को स्वीकार करते है। ज्ञान का पथ दुर्बोध व कठिन है, अतः तुलसी ने भक्ति को अपने काव्य में स्थान दिया—

ज्ञान को पंथ कृपान की धारा।
परत खगेस होइ नहिं थारा ॥

तुलसी और कबीर दोनों ने ही राम-भजन तथा जप को भक्ति का मुख्य आधार माना है।

1. रे मन, राम सुमिर, राम सुमिर, राम सुमिर भाई। (कबीर)
2. राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे। घोर भव नीर निधि नाम निज नावरे।
2. राम भजन बिनु सुनहु खगेसा। मिटहिं न जीवन केर कलेसा ॥
4. हम लखि हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखें, राम नाम जपु नीचा ॥
5. उमा कहौं मैं अनुभव अपना, सत हरि भजन जगत सब सपना। (तुलसी)

गुरु महिमा—कबीर और तुलसी दोनों ने ही गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। गुरु के बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। गुरु सत् मार्ग दिखाता है तथा ईश्वर तक पहुँचाने का कार्य भी करता है।

1. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाय।
बलिहारी गुरु आपने गोबिन्द दियो मिलाय ॥
2. गुरु बिनु होय न ज्ञान।
3. श्री गुरु पद नख मंजुल ज्योति। सुमरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥
4. वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्र सर्वत्र वन्द्यते ॥
5. बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर ॥

लोकमंगल की कामना—कबीर और तुलसी दोनों ही लोकमंगलवादी कवि थे। कबीर के समय में हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य था। दोनों ही अपने को उच्च समझते थे। कबीर ने इस साम्प्रदायिक भावना को समाप्त करके उनमें साम्प्रदायिक-सद्भावना को जाग्रत किया।

अरे इन दोऊन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई, गागर छुअन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवें यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर ओलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहे घर में ही करें सगाई ॥
हिन्दून की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

कबीर कहते हैं कि न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सब एक ही ईश्वर की संतान हैं, अतः यह भेदभाव मिथ्या है। इन्हें एक ही ईश्वर का जाप करना चाहिए।

1. निर्गुण राम जपहु रे भाई।
   हिन्दू तुरक का कर्ता एकै, ता गति लखि न जाई ॥
2. वही महादेव वही महंमद, ब्रह्मा-आदम कहिये।
   को हिन्दू को तुरक कहावै, एक जिमीं पर रहिये ॥
3. हिन्दू-तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
   कहहि कबीर सुनहु हो संतो राम न कहेउ खुदाई ॥

कबीर के समय समाज में साम्प्रदायिकता के साथ ही अनाचार भी व्याप्त था। हिन्दू सत्कर्मों को छोड़कर जप, तप, माला, छापा, तिलक, व्रत उपवास, मूर्ति पूजा, तीर्थ, अवतारवाद, मूँड मुड़ाना आदि में विश्वास करने लगा था। संयम, सदाचार, त्याग, तप, सहिष्णुता, दया, परोपकार सब नष्ट हो चुके थे। बचा था तो केवल बाह्य ढोंग तथा आडम्बर। कबीर ने खुलकर इसका विरोध किया।

1. पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़।
   याते तो चक्की भली पीस खाय संसार ॥
2. लाडू लावर लापसी पूजा चढ़ै अपार।
   पूजि पुजारा ले चला मूरत के मुख छार ॥
3. माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माँहि।
   मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाँहि ॥
4. केसन कहा बिगारिया जो मूंडे सौ बार।
   मन को काहे न मूडता जामें भरा विकार ॥
5. करि असनान, छुवो नहिं काहु, पाती फूल चढ़ाये।
   मुरति से दुनिया फल माँगै, अपने हाथ बनाये।
6. हिन्दू-बरत-एकादसि साधैं दूध-सिंघारा सेती।
   (अन्न) अन को त्यागैं मनको न हटकैं, पारन करैं सगोती ॥

कबीर ने पंडितों को कसाई व भूत कहा है।

1. साधो, पाँड़े निपुन कसाई।
   बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।
   करि अस्नान तिलक दै बैठे विधि सों देवि पुजाई।
   अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई।
   इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई।
   पाप कटन को कथा सुनावैं, करम करावैं नीचा।
   बूड़त दोउ परसपर दीखे, गहे बाँहि जम खीचा।
   गाय वधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे।
   कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि में बाम्हन खोटे।
2. पंडित बाद बदन्ते झूठा।
   राम कहे दुनियाँ गति पावे, खाँड कहे मुख मीठा।

2. वेद किताब छाड़ि देउ पांडे, ईसब मन के भरमा ।

कबीर ने ढोंगी वैष्णवों को भी इस प्रकार डाँटा है—

वैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक ।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ।।

कबीर ने हिन्दुओं के ही समान मुसलमानों की हिंसा, रोजा-नमाज आदि पर करारा व्यंग्य किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

1. बकरी पाती खात है, ताकि काढ़ी खाल ।
जे नर बकरी खात है, तिनको कौन हवाल ।।

2. लहुरे थकें दूँ पीया खीरू ।
ताका अहमक भखै सरीरू।।

3. कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय ।।

4. दिन में रोजा रहत है राति हनत हैं गाय।
एक खून एक बंदगी कैसे खुशी खुदाय ।।

5. रोजा करें निवाज गुजारें कलमे भिसत न होइ ।

वैष्णवों और मुल्लाओं के अतिरिक्त कबीर ने शाक्तों की भी निन्दा की है। कबीर के समय में शाक्त अनाचारी व हिंसक हो गये थे और समाज में अनाचार फैला रहे थे। अतः कबीर ने इनकी निंदा की है। कुछ उदाहरण देखिए—

1. कबीर साकत ऐसी है, जैसी लहसुन की खानि ।
कौने बैठें खाइए, परगट होइ निदान ।।

2. सासत बामन मति मिलै वैष्नो मिलै चाण्डाल ।
अंकमाल दे भेंटिए मानो मिले गुपाल।।

3. साकत सुनहा दूनो भाई, एक नींदै एक भौंकत जाई ।।

4. साकत संग न कीजिए दूरहि जहिये भागि ।

कबीर ने स्त्री की निंदा की है तथा पुरुष को उसकी परछाईं से भी दूर रहने का उपदेश दिया है।

नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति जो नित नारी के संग।।

इस प्रकार कबीर ने समाज मे व्याप्त भ्रष्टाचार व अनाचार का बड़े स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। महात्मा कबीर एक युगदृष्टा और सच्चे समाज सुधारक थे।

कबीर की ही भांति महात्मा तुलसीदास भी अपने युग के महान् लोकनायक, समाज सुधारक, सदाचार के ग्रहण और अनाचार के त्याग का उपदेश तथा शिक्षा देने वाले महान् संत थे। महात्मा तुलसीदास की अनेक लोकमंगलकारिणी युक्तियाँ समाज में लोकोक्तियों के रूप में बहुचर्चित देखी जाती हैं। इनकी पैठ राजा से रंक तक थी। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी।

2. सुनहु मात सोई सुत बड़भागी, जे पितु मात चरन अनुरागी।

3. पुत्रवती जुवति जग सोई, राम भगति सुत जाकर होई।

इन सभी उदाहरणों में महात्मा तुलसीदास ने बड़े ही संयत रूप में राजा के कर्तव्य तथा पुत्र के गुण, धर्म आदि का सदाचार, शिक्षा और उपदेशकमूलक निरूपण किया है। तुलसी और कबीर के उपदेशों में जहाँ हम परिणाम की विविधता देखते हैं, वहाँ उनमें एक बड़ा भारी अन्तर शैली का है। कबीर एक प्रकार से बड़े लोगों को बुराई छोड़ने के लिए डाँटते हैं। उनके कार्यों की निन्दा करते हैं तथा उनके आडम्बरपूर्ण कृत्यों का पर्दाफाश करते हैं, वहाँ महात्मा तुलसीदास समाज के विभिन्न वर्गों के कर्तव्य और धर्म का निर्देश करते हुए सरल भाव से सत्य ग्रहण और असत् के त्याग की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार तुलसीदास ने राम नीति और कबीरदास ने दण्डनीति का सहारा लिया है।

कबीरदास ने जहाँ नारी को पुरुष के विकास में बाधक और पाप कर्मों की साधक माना है, वहाँ तुलसी ने भी नारी को नियंत्रित रखने का उपदेश दिया है—

1. 'जिमि स्वतन्त्र है बिगरै नारी।

2. ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।

नारी के स्वभाव पर महात्मा तुलसी ने बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कही हैं और पुरुष को सतर्क होने का स्पष्ट उपदेश दिया है—

1. नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया, भय अविवेक अशौच अदाया॥

2. मोहे न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।

3. भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।

तुलसी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नारी का सौन्दर्य बड़ा आकर्षक होता है। इससे बचना बहुत कठिन है।

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, ममता बधिर न काहि।
मृगनयनी के नैन सर, को अस लागिम जाहि॥

जहाँ तुलसीदास ने नारी के कुटिल स्वभाव का निरूपण किया है, वहाँ समाज में उसकी दयनीय स्थिति को दर्शाकर नारी के सम्मान की उद्घोषणा की है—

'कत विधि सृजि नारि जग माहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

तुलसी ने नारी को एक महान् सती के रूप में भी सामने रखा है। वास्तव में तुलसी की धारणा नारी को लज्जा, मर्यादा, सदाचार आदि का पालन करते हुए समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराने की रही है। जितनी उन्होंने नारी के अनादर्शों की निन्दा की है, उससे सहस्त्र गुना बढ़कर उन्होंने नारी के आदर्शों की प्रशंसा की है। इससे सिद्ध होता है कि वे आदर्शवाद को ही मानव समाज का मूल मानते थे। तुलसी ने पति-सेवा को

ही नारी का एकमात्र परम कर्तव्य बताया है ।

सहज अपावन नारि, पति सेवत सुभ गति लेहै ।

महात्मा तुलसीदास ने सदाचार पर बड़ा बल दिया है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य को मोहादि विकारो से मुक्त रहकर संतोष, दया, करुणा, क्षमा, परोपकार, शान्त, शीतलता, समानता आदि उदात्त मानवीय भावो से युक्त रहना चाहिए। वे इसी का चितन करते हुए कहते हैं —

कबहुँक हौं यह रहनि रहौगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहूँ सौं कछु न चहौंगो ।

महात्मा तुलसीदास ने समाज में भले और बुरे के भेद को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करके 'त्यागने-गहन-उपेक्षणीय' की प्रेरणा दी है। मित्र के गुणावगुणों को स्पष्ट करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

आपन गिरि दुख रज करि जाना, मित्रक रजसुख मेरु समाना।

इन पंक्तियों के पढ़ने से मित्र और अमित्र की पहचान हो जाती है और एक सच्चे मित्र के कर्तव्य के पालन की प्रेरणा भी मिलती है।

महात्मा तुलसीदास कर्म पर सर्वाधिक बल देते है—

1. करम प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करिय सो तस फल चाखा।

2. कोउ न जग सुख-दुख कर दाता- निजकृत भोग सुनहु भ्राता।

वे जीवन के सुख और दुख का कारण कर्म को बताते हैं। इसी से भाग्य बनता है।

"होइ है सोइ जो राम रचि राखा, को करि तरक बढ़ावही साखा।

महात्मा तुलसीदास असत् कर्म करके सत् फल प्राप्त करने वाले पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं—

सेवक सुख चहै मान भिखारी, व्यसनी धन सुभगति व्यभिचारी।
लोभी जस चहै चारु गुमानी, नभ दुहि दूध चहैत ये प्रानी।

कबीर ने भी यही कहा है—

करता था सो क्यों किया, अब करि क्यों पछिताय।
बोमे पेड़ बबूल का आम कहाँ ते खाय।।

महात्मा तुलसीदास ने दुष्ट और सज्जन का भेद करते हुए दुष्ट का साथ त्यागने का उपदेश दिया है—

वरु भल नरक बास सुरत्राता। दुष्ट संग नहिं देइ विधाता।

कबीर ने भी वैष्णवों का साथ और शाक्तों के त्याग पर बल दिया है।

इस प्रकार कबीर और तुलसी दोनों संत थे और लोक मंगल की कामना से उनका हृदय ओतप्रोत था। दोनों का मार्ग एक था। भाव एक था। विचार एक था। दोनो ही बहुजन हिताय, बहुजन रताय और आत्मवत्सर्वभूतेषु के उपदेशक थे। परन्तु कबीर और

तुलसी दोनों ही समाज को दो विविध दिशाओं से देख रहे थे। तुलसी ब्राह्मण थे अतः उन्हें नीचे की ओर देखकर जो कुछ बुराई, मर्यादा का विरोध और अनाचार दिखाई दिया, उन्होंने उसे सुधारने का प्रयत्न किया है और कबीर ने नीचे खड़े होकर ऊपर की ओर देखा है और वहाँ उन्हें जो कुछ आडम्बरपूर्ण तथा अनाचारपूर्ण दिखाई दिया, उसका यथार्थ निरूपण करते हुए समाज को एक आदर्श स्थिति में आने का उद्घोष किया है। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी ब्राह्मण होते हुए भी अन्य वर्गों के विरुद्ध नहीं थे बल्कि वे उनमें सुधार लाने चाहते थे और अछूत होते हुए भी विद्रोही नहीं थे, वे संभ्रान्त बनने वालों को अपनी मर्यादा में रहने के लिए सचेत कर रहे थे। दोनों का मन्तव्य एक था। दोनों का गन्तव्य एक था। अतः दोनों ही युगद्रष्टा और लोकमंगलवादी थे।

इस समस्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर और तुलसी अपने युग के महान् प्रेरक और समाज सुधारक थे। यद्यपि बाह्य रूप में देखने से उनके सम्प्रदाय और सिद्धान्त भिन्न थे परन्तु उनमें परस्पर कोई विरोध या प्रतिक्रिया नहीं थी। कबीर निर्गुणवादी थे परन्तु उन्होंने उस निर्गुण को राम, गोविन्द हरि, केशव आदि सगुण रूपों से सम्बोधित किया है। तुलसी सगुणोपासक थे परन्तु उन्होंने अपने सगुण को ही निर्गुण का रूप माना है। कबीर और तुलसी की उपासना पद्धति भी ज्ञान और भक्ति के समन्वित रूप में ही उपलब्ध होती है। इन दोनों की उपासना पद्धति में सबसे महत्वपूर्ण तत्व सदाचार मूलकता है, जिसके द्वारा इन दोनों ने ही जन-सामान्य को साधना और उपासना के मार्ग पर बढ़ने का सरल मार्ग बताया। बिना सदाचार के न ज्ञान है न भक्ति, दोनों ढोंग हैं। अतः कबीर ने सदाचार रहित योगियों और भक्तों का उपहास किया है और तुलसी ने सदाचार रहित ज्ञानियों को बुरी तरह डाँटा है। जहाँ तक इन दोनों के व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध है, दोनों ही संत थे। त्यागी, विरागी, परोपकारी, दयालु, सत्यनिष्ठ, अहिंसावादी और ज्ञानी थे।

कबीर और तुलसी के जीवन और साहित्य में बाह्य रूप से भेद दिखाई देने पर भी अन्तराल में बहती हुई पावन मानवतावादी सरस ज्ञान धारा की मनोहारिणी छटा ही दिखाई देती है।

कबीर के राम

'राम' शब्द 'रम्+घञ्' से बना है जिसका अर्थ—रमा हुआ। वास्तव में ही 'राम' कण-कण में व्याप्त हैं। वे निर्गुण, निराकार, निरंजन, मायातीत, मायापति और परम विराट् परमेश्वर हैं। भारतीय दर्शन और भक्ति की परम्परा मे राम निर्गुण और सगुण दोनो ही रूपों मे मान्य और उपास्य हैं। महात्मा तुलसीदास ने उनके निर्गुण रूप के साथ ही साथ सगुण अवतारधारी, भक्त हितकारी, भवसागर से पार करने वाले भगवान् के रूप में मानकर उनके शक्ति, शील और सौन्दर्य के समन्वित रूप का वर्णन किया है—

"जय राम रूप अनूप निर्गुन, सगुन प्रभु प्रेरक सही।
दस सीस बाहु प्रचंड खंडन चड सर मंडन मही।
पायोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचन।
नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भवभय मोचन ॥"

"भगवान् भक्तों की रक्षा के लिए अवतार धारण करते है। जब पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ जाता है तो भगवान् राम अवतार लेते हैं। वे निर्गुण ब्रह्म और विष्णु के अवतार कहे गये हैं। 'गीता' में भी इसी मत की स्थापना की गयी है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मं संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥"

तुलसी ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

"बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन, गोपार ॥
जब-जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब-तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥"

महात्मन् तुलसी ने यह भी कहा है—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होइ मैं जाना ॥"
"जो आनन्द कंद सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य-निवासी ॥
सोमा धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥"

इस प्रकार 'तुलसी, के राम पूर्ण ब्रह्म हैं। वे सच्चिदानन्द हैं। वे सहज ही प्रकाश रूप हैं। राम ब्रह्म है। संसार में व्याप्त हैं। परमानन्द रूप हैं। परेश हैं (सबके स्वामी हैं)। वे पुरुष विशिष्ट हैं। प्रकाश निधि हैं। परापर नाथ हैं। ऐसे महा महिमाशाली राम रघुकुल मणि हैं और भगवान शंकर के भी स्वामी हैं। वे ही राम अवधिपति महाराज दशरथ के पुत्र हैं। ये अज हैं और अलख-निरंजन हैं।

"राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहि तहँ मोह निसा लव लेसा।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहि तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरख-विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रकट परावरनाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिवनायेउ माथ॥"

"राम सो अवधि नृपति सुत सोई। की अज अगुण अलख गति कोई॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने 'राम' को बड़े ही विशद रूप में ग्रहण किया है। वे परम ब्रह्म और विष्णु के अवतार हैं। उनका अवतार भक्तों का उद्धार करने और पृथ्वी पर पाप-भार बढ़ाने वाले दैत्यों और दुष्टों का संहार करके सन्तों, गौ, ब्राह्मणों तथा सत्पुरुषों की रक्षा करने के लिए हुआ है। उन्होंने अवधपति, रघुकुल-शिरोमणि महाराजा दशरथ के यहाँ पुत्र रूप में अवतार लिया है। उन्होंने लंकापति रावण का कुटुम्ब सहित विनाश किया था। धर्म की मर्यादा को रक्खा था। वे ही 'राम' तुलसी के उपास्य भगवान हैं।

महात्मा तुलसीदास विशिष्टाद्वैत वादी थे। रामानुजाचार्य और रामानन्द की परम्परा में थे। विशिष्टाद्वैत के अनुसार 'चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म' की मान्यता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म चेतन और अचेतन (जड़-चेतन) से विशिष्ट होता है। इसका आशय यह है कि ब्रह्म माया से परे और सांसारिक प्राणियों से विशिष्ट गुण-धर्म वाला होता है। जीव से उसकी विशिष्टता भी यही है—

"हों जग जीव ईस रघुराया। वे माया पति हों बस माया॥"

यही अन्तर होता है, जीव और ब्रह्म में। इसीलिए—

"तुलसीदास यह जीव मोह रजु जो बाँधे सोई छोरै॥"

की आस्था 'तुलसी' जैसे राम भक्त रखते हैं।

विशिष्टताद्वैत वादियों के राम योगियों के ईश्वर के ही समान दिखाई देते हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्र में ईश्वर का रूप इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वर।"

[अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष अभिनिवेश रूप पंचविधक्लेशों (पंच महाविकारों), पुण्य-पाप मिश्रित त्रिविधतापों, जाति-आयु-सुख दुःखादि, भोगरूप विविध विपाकों (कर्मों) के फलों तथा धर्म संस्कारों के समुदाय रूप कर्माशय वासनाओं से जो फलोन्मुख न होकर चित्त में संस्कार रूप में विद्यमान है—इन चतुर्विध दोषों से तीनों काल में विनिर्मुक्त विशिष्ट पुरुष ही ईश्वर है।]

ईश्वर का यह स्वरूप निरूपण ठीक विशिष्टाद्वैत वादियों के 'राम' के रूप से मिलता है। महात्मा तुलसीदास ने इसी रूप को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

"ज्ञान गिरा गोतीत अज माया गुर्न गोपार।
सोइ सच्चिदानन्दघन करत चरित्र उदार।।
शुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।।"

कबीरदास भी राम के ही उपासक हैं और वे भी राम को ठीक इसी रूप में मानते हैं जिस रूप में योगी और विशिष्टाद्वैत वादी मानते हैं। कबीरदास 'राम' के निर्गुण रूप को यथातथ्य स्वीकार करते हैं—

"निर्गुण राम जपहु रे भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।।"

परन्तु कबीरदास तुलसी के राम के उस स्वरूप को तनिक भी मान्यता नही देते जिन्होने दशरथ के घर अवतार लिया था। जो सीता के पति थे और जिन्होने रावण को मारकर पृथ्वी से पाप का बहिष्कार करके धर्म और मर्यादा की स्थापना की थी। उन्होने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

"राम नाम तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।।
ना दशरथ घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा।।"

"कहै कबीर बिचारि करि, जिनि कोई खोजै दूरि।
ध्यान धरो मन शुद्ध करि, राम रह्या-भरपूरि।।
कहै कबीर विचारि करि, झूठा लोही चाम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता राम।।"
"व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै को पंडित को जोगी।
रावण-राव कंवनसूं कहिये कवन बैद को रोगी।।"

इन सभी उदाहरणो से स्पष्ट है कि कबीरदास के राम मूलरूप मे तो 'तुलसी' के निर्गुण राम के ही समकक्ष हैं परन्तु सामान्य रूप से उन्होने उनके रूप में निर्गुण और सगुण का स्पष्ट भेद कर दिया है। स्पष्ट है कि कबीरदास किसी भी आधार पर राम के सगुण रूप को स्वीकार नहीं करते। इसका आधार क्या हो सकता है। यह एक गहन तथ्य है और विचारणीय है। कबीरदास की इस दृष्टि को देखकर तो लगता है कि वे धर्म के विरोधी थे और हिन्दुओं की सगुणोपासना पद्धति उन्हें किसी भी आधार पर स्वीकार नही है।

कबीरदास के राम ब्रह्मा, विष्णु और शंकर से भी ऊपर अगम, अगोचर और निर्विष्कार हैं। वे अक्षयवट के वृक्ष की भाँति विराट् हैं। निरंजन उसकी डाल है। त्रिदेवा शाखायें हैं और संसार पत्रवत् अनित्य और नाशवान् है।

"अक्षयवट एक पेड़ है, निरंजन ताकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये, पात भया संसार।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास ने 'राम' को ब्रह्मादिक से भी परे माना है

उनकी दृष्टि में तो विष्णु आदि सभी अवतार त्रिगुणात्मक हैं क्योंकि वे देह-धर्म के अवधारक हैं और देह त्रिगुणात्मिका है। उसमें पंच तन्मात्राएँ, पंचमहाभूत, पंच कर्मेन्द्रियां, पंच ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति ये 24 तत्व विद्यमान होते हैं, क्योंकि इनके बिना शरीर की सृष्टि नहीं हो सकती और जब सृष्टि होती है तो सत्, रज् और तम् की विषमता भी होती है और जब ये तीनों तत्व सम हो जाते हैं तो प्रलय हो जाती है, यही स्थिति इन त्रिदेवों की है, जो मोक्ष के नहीं स्वर्गादि लोकों के ही प्रदाता होते हैं। अतः कबीर के राम तो सबके स्वामी हैं। महेशादि देव भी उनके दास हैं—

"एक जनम के कारने कत पूजो देव सहेसो रे।
काहे न पूजो राम को जाके भक्त महेसो रे।।"

कबीरदास के राम इस प्रकार से एक अद्भुत उपास्य हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि कबीरदास ने 'राम' रूप में आत्मा को सम्बोधित किया है। यह कबीरदास का व्यावहारिक, सरल और सर्वसुलभ रूप है। समाज में भी आत्मा को राम कहा जाता है अर्थात् आत्माराम तो समाज का एक बहुचर्चित शब्द है, दूसरे 'राम निकल जाना' 'राम लगती कह ।।, आदि मुहावरे भी समाज मे प्रचलित हैं, जिनका भाव आत्मतत्त्व ही है। परन्तु राम तो कबीरदास के उपास्य है, उपासक नहीं, क्योंकि जब वे कहते हैं कि—

"राम मोरे पिउ हौं राम की बहुरिया।"

तो 'राम' का स्पष्ट भाव परमात्मा है, और बहुरिया का भाव आत्मा है और जिस प्रकार आत्मा-परमात्मा का जन्म-जन्मान्तर का अंश अंशी का सम्बन्ध है उसी प्रकार का सम्बन्ध कबीरदास भी राम से जोड़ते हैं। विचारणीय बात है कि यदि कबीर दाशरथि या तुलसी के उपास्य राम को ऐसा कहते कि वे (राम) मेरे प्रियतम हैं और मैं उनकी बहुरिया हूँ, तो कैसे निभता क्योंकि तुलसी के राम तो मर्यादावादी एक पत्नी व्रती थे। उनको अन्य किसी से परकीया भाव से जोड़ते तो कुहराम मच जाता। अतः कबीर के राम निर्गुण निराकार राम हैं। वे सभी अवतारों से परे हैं।

सगुण भक्त कवियों की भांति कबीरदास ने भी अपने राम के लिए गोविन्द, गोपाल हरी, हरि आदि पर्यायों का भी प्रयोग किया है, परन्तु उनके इस कथन मे सगुण का भाव नहीं है, वहां भी निर्गुण का ही भाव है।

"हरि जननी मैं बालिक तोरा।"
"हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं। हरि न मरिहैं तो हम काहे मरिहैं ।।"

इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि कबीर के राम सगुण ब्रह्म नहीं केवल निर्गुण ब्रह्म हैं।

यही नहीं कबीर के राम निर्गुण तो हैं परन्तु 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' के ज्वलन्त रूप हैं। अल्लाह, राम, करीमा, केशव तथा हजरत आदि नाम उसी के हैं। जैसे आभूषण अनेक और सोना एक होता है उसी प्रकार नाम अनेक और ब्रह्म एक है।

"(भाई रे) दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा-केसो, (हरि) हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक तें गढना, इनि महँ भाव न दूजा।
कहन-सुनन को दुर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा॥
वही महादेव वही महम्मद, ब्रह्मा-आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावैं, एक जिमीं पर रहिये॥
वेद-कितेब पढ़े वे कुतुबा, वे मोलाना वे पाडे।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे॥
कहँसि कबीर वे दूनौं भूले, रामहिं किनहुँ न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावैं, बादहिं जन्म गँवाया॥"

कबीरदास ने अपने उपास्य के लिए निरंजन शब्द का प्रयोग भी किया है परन्तु यह निरंजन भी राम नही है। यह विष्णु, ब्रह्मा और शंकर के रूप मे ही गृहीत है। परन्तु वह निरंजन भी अलख निरंजन है जिसके बन्धन मे सभी लोग बन्धे हुए हैं। वही ससार का सृजनकर्ता है और वही संसार का विनाशकर्त्ता है। दूसरे शब्दो मे यह निरंजन ही उद्भव स्थिति और सहारकर्त्ता है। जो राम की शरण मे आ जाता है वह निरंजन की दृष्टि से बच जाता है। दूसरे शब्दो म जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।

1. अलख निरजन लखइ न कोई। जेहि बंधे बंधा सब लोई।
2. मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारों मैं खांव।
   जल-थल मे मैं राम रह्यो, मारे निरजन नांव॥
3. दास कबीर राम के सरनें ज्यूं आवें त्यूं तारे।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश मे कबीर के राम का पूरी तरह परिचय मिल जाता है। कबीरदास ने ब्रह्म, परमात्मा और परम विराट चेतन के लिए 'राम' शब्द का प्रयोग किया है जो सभी देवो से ऊपर है और आत्मा पति रूप मे उसी का वर्णन करती है जिस प्रकार गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो अन्य देवो को पूजता है वह उन्हीं देवो के लोको को प्राप्त करता है परन्तु जो मुझे भजता है वह मेरे गोलोक को ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार कबीरदास का भी दृढ़ विश्वास है कि जो निर्गुण राम को भजता है वह सीधा उस परब्रह्म के धाम मे पहुँच जाता है। वह धाम ऐसा है जहां किसी भी देव की गति नही है। यदि गम्भीरता से विचार करें तो हम देखेंगे कि शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप मे कबीर और तुलसी के राम मे कोई अन्तर नही है। निर्गुण के धरातल पर ये दोनों एक हैं और ज्ञान तथा भक्ति के समन्वय द्वारा ज्ञेय और आराध्य हैं तुलसीदास निर्गुण के साथ ही साथ राम के सगुण रूप को भी मानते हैं परन्तु मूर्तिपूजा के विरोधी होने के कारण और सगुण भक्ति में बाह्याचार का बोलबाला होने के कारण कबीरदास मूर्ति पूजा और नवधा सगुण भक्ति के विरोधी हैं परन्तु उनमें अध्यात्म रामायण की तुलसी द्वारा भी स्वीकृत ज्ञान, प्रेम, सत्संग, नाम जाप, गुरु-सेवा आदि पर आधारित नवधा भक्ति पूर्णतया मान्य है अतः यह कहना असगत न होगा कि कबीर की रामोपासना निर्गुण रूप धारिणी होने पर भी सरस, सरल और सर्वग्राह्य है।

कबीर की प्रेम भावना

प्रेम शब्द ब्रह्म और आत्मा की तरह सर्वत्र व्याप्त है । जगत् में ही नही जीवन मे भी । इस प्रेम शब्द का अर्थ क्या है ? निकटतम सम्बन्ध, घनिष्टता, अनन्यता, अन्तरंगता आदि । इस प्रकार प्रेम एक ऐसा व्यापक व उपयोगी तत्व है, जो सम्बन्धों को जोड़ता है, तोडता नहीं । संसार के सभी सम्बन्धों में प्रेम किसी न किसी रूप मे उपस्थित रहता है । जैसे, पुत्र-प्रेम, मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, बन्धु-प्रेम, देश-प्रेम, समाज-प्रेम आदि । प्रेम का यह विस्तार ही विकासवाद का मूल-सूत्र है । प्रेम से ही विकास होता है । प्रेम के बिना ही विनाश का ताण्डव देखने को मिलता है । राम-भरत के प्रेम ने सभी को सुख, सौभाग्य और सौहार्द्र प्रदान किया था, जबकि कौरव और पाण्डवो के अप्रेम ने महाभारत जैसे भयंकर और सर्वनाश मूलक पारिवारिक युद्ध को जन्म दिया था । परन्तु मनुष्य के मन में प्रेम के स्थान पर असत्य, ईर्ष्या, हिंसा, छल-कपट, पाप-पाखण्ड, आदि कुत्सित भावनायें ही अधिक बलवती होती हैं और प्रेम की पोषिका—हिंसा, दया, त्याग, परोपकार आदि की वृत्तियाँ कठिनाई से ही बिरले लोगो में मिल पाती हैं ।

यह तो सर्वविदित ही है कि यह सृष्टि परमात्मा की बनाई हुई है । उसने इस सृष्टि को सत् और असत् दो भागो में बाँट रखा है । इसी प्रकार प्रेम के भी दो भाग हैं । 1. लौकिक या साधारण । 2. अलौकिक या असाधारण । लौकिक प्रेम और कुछ नही लालच का ही दूसरा नाम है । वह मोह है, लोभ है, काम है, क्रोध है और अहंकार भी है । उसके बाल-बाल में माया और उसकी असत् परिणामी कुटिलता व्याप्त है । इसीलिए सन्तों साधकों, ज्ञानियों, भक्तो और महानपुरुषों ने इस लौकिक प्रेम को प्रेम नहीं माना है । उनकी दृष्टि मे तो अलौकिक प्रेम ही वास्तविक प्रेम है जिसमें आत्मज्ञान, सदाचार, करुणा, परोपकार, साधना, आराधना और मुक्ति की भावना भरी हुई है । यही प्रेम परमात्मा, आत्मा और शुद्ध-बुद्धि का परिचायक है । कबीरदास ने अपने काव्य में इसी प्रेम-तत्व का निरूपण किया है । उन्होंने अपने आत्म-तत्व निरूपक प्रेम पर लौकिक प्रेम की काली छाया नहीं पड़ने दी है । कबीर का प्रेम तो निष्कलंक चन्द्रमा की भाँति अद्भुत है । उसमें बिजली की चमक है । सूर्य का ताप है और पूर्ण राका-शशि की अमृता है । अतः प्रेम के अर्थ और महत्ता को जान लेने के पश्चात् ही हम कबीरदास की प्रेम-भावना का मूल्यांकन करेंगे ।

कबीर सन्त थे । उनके समय में साधना या मोक्ष-प्राप्ति के साधनों मे ज्ञान और भक्ति ये दो ही अधिक प्रचलित थे । नाथों तथा सिद्धों मे ज्ञान-साधना का बोलबाला था और वैष्णवों, शाक्तों और शैवों मे भक्ति-साधना का । इधर सूफी-साधकों मे भी प्रेम का भारी महत्व था । यही नहीं प्रेम उनकी ईश्वर-साधना का मेरुदण्ड था । इस सम्बन्ध मे जायसी और उसमान के मतों को उद्धृत करना असंगत न होगा ।

1. तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि ।
   प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि ॥" (जायसी)

2. "ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै जप तप संजम नेम ।
   मान मो उत्तम जगत जन, जो प्रति पारै प्रेम ॥" (उसमान)

कबीरदास ने भी अपनी वाणी में प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया है। प्रेम की कहानी अकथनीय है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रेम कथन का विषय नहीं है। अनुभूति का विषय है। जिस प्रकार एक गूँगा व्यक्ति यदि शर्करा (चीनी या अन्य मिठाई) को खाता है और उसका स्वाद अन्तर्तम में लेते हुए आनन्द की अनुभूति से मुस्कराता है, परन्तु वाणी के अशान्त होने के कारण उस स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता।

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही नहिं जाय।
गूँगे केरी सर्करा खावै और मुसकाय॥"

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कबीर का प्रेम लौकिक नहीं है। वह नितान्त रूप में अलौकिक है। उनके प्रेम का आलम्बन निर्गुण राम है। कोई लौकिक पुरुष या स्त्री उनके प्रेम का आलम्बन नहीं है। राम-प्रेम के इस अमृत-रस को पीकर कबीर की आत्मा मस्त हो गई है। वह प्रेम-रस एक शाश्वत (अमर) आनन्द का प्रदाता है, जो लौकिक प्रेमानन्द की भाँति क्षणिक और केवल मनोरंजन मात्र का ही साधन नहीं है। हरि-रस अर्थात् भगवान् की भक्ति-रूपी प्रेमानन्द का पान करके कबीरदास इतना मस्त हो गया है कि उसे अपने शरीर की भी सुध नहीं रही है। दूसरे शब्दों में उसने अपने शरीर के स्वाभाविक लौकिक धर्म का त्याग कर दिया है और अलौकिक धर्म की अद्‌भुत परिधि में विचरण करने लगा है।

"हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहू न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।"

कबीर का यह 'हरि-रस' उनकी निर्गुण-भक्ति है। यह प्रेम ईश्वर-विषयक रति का ही दूसरा नाम है। परन्तु कबीरदास की यह रति-भावना निर्गुण-ब्रह्म के प्रेम की ही पोषिका है, सगुण ब्रह्म के प्रेम की पोषिका नहीं है। यही कारण है कि कबीरदास के प्रेम का कोई स्थूल आलम्बन नहीं है। उसका आलम्बन निर्गुण, निर्विकार, अकल, अनीह तथा जन-जन में व्याप्त विराट्‌रूपधारी परमात्मा ही है और इस प्रेम का आश्रय कबीर का मन व बुद्धि न होकर शुद्ध आत्म-तत्व है क्योंकि प्रेम के अलौकिकत्व में मन और बुद्धि के प्रभाव तिरोभूत हो जाते हैं, तथा आत्म-तत्व मात्र ही उद्‌भूत रह जाता है। सगुणोपासना में तो प्रेमा-भक्ति का व्यावहारिक रूप सहज ही उपलब्ध हो जाता है, परन्तु निर्गुण साधना में जहाँ 'ज्ञान' का एकछत्र राज्य है, 'प्रेम' जैसे घटिया शब्द का व्यवहार बड़ा अटपटा लगता है। कबीर से पूर्व के अन्य किसी भी साधक ने निर्गुण भक्ति (प्रेम) का अवलम्बन नहीं लिया था। सभी आत्म-साधक, ज्ञान, योग, प्राणायामादि अष्टांग योग की प्रक्रियाओं के द्वारा ही चित्त-वृत्ति का निरोध करते थे। इसीलिए निर्गुण साधना को कठिन बताया जाता था। 'गीता' में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिर वाप्यते॥" (गीता 12, 5)

इससे स्पष्ट है कि अव्यक्त ज्ञान साधना बहुत ही कठिन और क्लेश कारक होती

है। यही कारण है कि उस साधना मे विरले ही प्रवृत्त होते हैं और यत्किंचित् ही सफल होते हैं। इसके विपरीत प्रेम-साधना अत्यन्त सरल है क्योंकि—

"येतु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा: ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यान्त उपास्यते ॥
तेषा महं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥" (गीता 12, 6, 7)

कबीरदास का प्रेम भी इसी प्रकार का ही था। उन्होंने भी अपने सभी कर्मों को भगवदर्पित कर दिया था—

"मेरा मुझ मे कुछ नही जो कुछ है तेरा ।
तेरा तुझ को सौंपता क्या लागै मेरा ॥"

इस प्रेम साधना का सबसे बड़ा आधार है— मन को सभी ओर से हटाकर अनन्य भाव से भगवान् की ही शरण में लगाना। जो साधक अपने मन और बुद्धि को एकाग्र करके केवल ईश्वर की ही शरण में लगाते हैं वे अपने इष्ट देव को अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं। इसमे संशय नही है—

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिंनिवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय: ॥"

कबीरदास भी अपने मन और बुद्धि को अनन्य-रूप में भगवत्शरण मे लगा देते है, और सांसारिक माया मोह से अपने मन को पूर्णतया विमुख कर लेते हैं—

1. "कबिरा काजर रेखहू अबती दई न जाय ।
नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय ॥"

कबीरदास जानते हैं कि संसार से विमुख रहकर और ईश्वर की शरण मे रहकर ही इस भवसागर को पार किया जा सकता है, क्योंकि यदि घड़े को पानी पर उल्टा रख दो तो वह डूबेगा नही और यदि उसको सीधा रख दोगे तो उसमे जल भर जाएगा। इसी प्रकार—

"जग ते रहु छत्तीस ह्वै राम चरन छ: तीन ।
तुलसी देखि बिचारि जिय है यह मतौ प्रवीन ॥"

की उक्ति को अपनाते हुए जो प्रेमी (साधक) सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर भगवान् के प्रेम में लीन हो जाता है, वह ईश्वर की कृपा से इस संसार-सागर से पार हो जाता है।

"औंधा घड़ा न जल मे डूबै, सूधा सूभर भरिया ।
जाको यह जग घिन करि लागै ता प्रसाद निस्तरिया ॥"

कबीरदास ने यह अलौकिक प्रेम का प्याला पी लिया है जिसका रस उसके रोम-रोम में रम गया है। इसलिए वह किसी अमली (विषाक्त) लौकिक प्रेम रस को क्यों खाये।

कबीरदास तो राम के प्रेम और भक्ति में लीन है। इसीलिए उन्होंने प्रभु के प्रेम-रूपी रस को तृप्त होकर पी लिया है। वह तो अपने प्रभु के दर्शन का मतवाला है, वह मुक्ति का भी अभिलाषी नहीं है।

"कबिरा प्याला प्रेम का अन्तर दिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रह्या और अमल क्या खाय॥
राता माता नाम का पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का माँगे मुक्ति बलाय॥"

इस प्रकार कबीरदास के रोम-रोम में राम का प्रेम रमा हुआ है। कबीर का प्रेम उस बादल की भाँति है जो अतृप्त, रूखी-सूखी और सूर्य के भयंकर ताप से तपती हुई सतृष्ण धरती की प्यास बुझाने के लिए वर्षा करता है और सूखी धरती के रूखे प्राणों को फिर से हरा-भरा कर देता है।

"कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आइ।
अंतर भीगी आतमा हरी-भई बन राइ॥"

कबीरदास ने प्रेम-साधना को अपनाकर अपने साधना-मार्ग में एक सर्वथा नवीन प्रयोग किया था, क्योंकि सगुणोपासकों की दृष्टि में ज्ञान और प्रेम एक साथ-साध्य नहीं हो सकते। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों का रहना कठिन है, उसी प्रकार प्रेम जो सगुणोपासना का आधार है निर्गुणोपासना के आधार-रूप प्रेमा-भक्ति की सरस, मधुर, सरल और व्यावहारिक प्रक्रिया में बाधा ही उपस्थित करता है। 'गीता' में भी कहा गया है और सभी सगुणोपासक भी इसी धारणा को अभिव्यक्त करते हैं कि ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन है और प्रेम का मार्ग अति सरल।

1. अविगत गति कछु कहत न आवै।
सब विधि अगम बिचारहि याते सूर सगुन लीला पद गावै॥"

2. ज्ञान को पंथ कृपान की धारा। बरत खगेस लाग नहिं बारा॥"

परन्तु सूफी-साधक और कबीरदास प्रेम के पन्थ को अत्यधिक दुरूह बताते हैं। प्रेमियों और सन्तों के इस कथन का रहस्य क्या है, इस तथ्य पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। कबीरदास प्रेम के घर को प्राप्त करने की प्रक्रिया को अत्यन्त कठिन बताते हैं। जो अपने सिर को हथेली पर रखकर चलते है, वे ही इस प्रेम-भवन में प्रवेश कर सकते हैं। यही कारण है कि इस मार्ग पर हर एक नहीं चल सकता, क्योंकि यह कोई 'खालाजान' (मौसी) का घर नहीं है, कि जो चाहे उसमें सरलता से प्रवेश कर जाय। परन्तु यह प्रेम का घर ही कबीर का निजी घर है, चाहे इसका मार्ग कितना ही विस्तृत और कठिन हो। जो अपने सिर को उतार कर इस प्रेम-देव के चरणों में रख देता है, वही प्रेम-रस का स्वाद ले सकता है।

"कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथि करि सो पैसे घर माहिं॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद॥"

स्वामी को प्राप्त करना कोई सरल काम नहीं है। उसे बिना भारी मूल्य दिये प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल बातों से ही स्वामी को कोई प्राप्त नहीं कर सकता। कबीर दास का यह दृढ़ विश्वास है कि राम को प्राप्त करने का सौदा बिना सिर का बलिदान किये नहीं हो सकता।

साँईं सेंत न पाइये, बातां मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम सो, सिर बिन कदै न होय॥

कबीरदास की दृष्टि से प्रेम को प्राप्त करना दुर्लभ है। प्रेम सर्वत्र नहीं मिलता। यह किसी खेत में नहीं उगता, न कहीं बाजार में ही बिकता है। प्रेम को प्राप्त करने के लिए राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, छोटा-बड़ा, शिक्षित-अशिक्षित कोई भी अपनी रुचि के अनुसार त्याग, बलिदान, तप, सहिष्णुता और सदाचार का पालन करते हुए प्रयत्नशील हो सकता है। परन्तु सिर को हथेली पर रखकर, सभी सांसारिक सम्बन्धों और भोगादि को त्यागकर जो अपने जीवन को ही प्रेम के दाँव पर लगा देता है, वही साधक एक सच्चे शूरमा की भाँति प्रेम मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। अतः इस कार्य के लिए परम शूरत्व की आवश्यकता है। जो कोई एक शूरमा की तरह साहस करके अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपार कष्ट झेलता है उसी को भगवान् प्राप्त होते है। अतः राम की भक्ति भी बड़ी कष्ट-दायक है। यह भी बड़े साहस का काम है। कायर और भीरू इस कार्य को नही कर सकते। जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का अर्पण करने का साहस रखता हों वही भगवान् का नाम ले सकता है।

प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाय॥
सूरे सीस उतारिया, छांडी तन की आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास॥
भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हथि करि, सो लेसी हरि नाम॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कबीरदास की प्रेम-भावना ही उनकी भक्ति-भावना है, परन्तु कबीर ने भक्ति के स्थान पर अपनी निर्गुणोपासना को प्रेम-भावना के रूप में सम्बोधित किया है। भक्ति और प्रेम दोनों में ही ढाई अक्षर हैं, परन्तु कबीरदास यह भली प्रकार जानते थे कि सगुण-भक्ति और विशेषकर कृष्ण-भक्ति जिसका कबीर के समय में अधिक प्रचार था, में सदाचार-पालन का अभाव-सा ही था। यद्यपि वे वैष्णवों की सदाशयता, अहिंसा की भावना, दयालुता आदि से बहुत प्रभावित थे, परन्तु मूर्ति-पूजा और बाह्याचार की प्रधानता के कारण भागवत की नवधा भक्ति अर्चना आदि को बिना

करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन धाई।
कहै कबीर अब नाम सों मुरप्यछ,
मौज दरबार की भक्ति पाई॥

कबीर के प्रेम में जहाँ सदाचार सहिष्णुता और उत्कृष्ट अन्तर्साधना व्याप्त है वही दूसरी ओर उच्चतम अनन्यता का भाव भी व्याप्त है जिसे हम उपास्य के प्रति एक-निष्ठता और समर्पण का पूर्ण भाव भी कह सकते हैं। कबीरदास अपने को राम का कुत्ता कहते है। उसका नाम मोती (मुक्त पुरुष) है। उसके गले में राम-नाम की रस्सी बँधी है। उसी के साथ कबीर का मन भी बँधा है और जिधर कबीर के राम (आत्म-शक्ति) उन्हें खीचते हैं उधर ही कबीर का मन जाता है, अन्यत्र नही। कबीरदास ने अपना सर्वस्व 'श्रीरामार्पणमास्तु' कर दिया है। इसलिए वे जो कुछ करते हैं वह स्वान्त: सुखाय के साथ ही साथ परान्त: सुखाय भी होता है। कबीरदास—'सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामया' की टेक पर अडे हुए दिखाई देते है। वे प्रेम मार्ग पर चलने वाले को पहले ही चेतावनी दे देते हैं कि जो स्वयं अपने हाथों से अपना घर फूंक कर तमाशा देखना चाहे, वह हमारे साथ चले—

1. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवडी, जित खैंचै तित जाउँ॥
2. तो-तो कर तो वाहुड़ो, दुरि-दुरि करैं तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखैं त्यूँ रहो, जो देवैं सो खाउँ॥
3. हम घर जारा आपना, लिया मुराडा हाथ।
अब घर जारों तासुका, जो चलै हमारे साथ॥

कबीरदास का प्रेम समस्त मानव समुदाय और यहाँ तक कि प्राणि-समुदाय तक व्याप्त दिखाई देता है। इसीलिए उनका मन पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, पाप-पाखण्ड, असत्य और हिंसा आदि कुत्सित भावो से पूर्णतया मुक्त दिखाई देता है। संक्षेप मे यह कहना असंगत न होगा कि कबीरदास आत्मवादी, समतावादी, पण्डित, ज्ञानी और संत थे उन्होने स्पष्ट रूप मे घोषणा की थी—

कबीरा खडा बजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काहू सों दोस्ती, ना काहू सों बैर॥

कबीरदास के इस आत्म-प्रेम के कारण ही उनका हृदय दयालुता से परिपूर्ण था और उन्हें निर्दोष जीवों का वध करने वाले हिंसकों पर बड़ा क्रोध आता था और घृणा भी थी जिसके लिए उन्होने इन हिंसक वृत्ति वाले धार्मिकों को भी खूब खरी खोटी सुनाई है।

कबीरदास के प्रेम निरूपण मे जहाँ एक ओर साधना का समवेत सम्भार ज्ञान, योग, सदाचार आदि की उपलब्धि होती है वहाँ दूसरी ओर विरह-वेदना के मर्म भेदी स्वर भी सुनाई देते हैं। यहाँ कबीर का प्रेम स्पष्ट रूप से दाम्पत्य प्रेम की परिधि मे आता है। ऐसी स्थिति मे कबीरदास अपनी आत्मा को पति परमात्मा की पत्नी मानकर चले

हैं जिनमें जन्म-जन्मान्तर का अटूट प्रेम भरा हुआ है। वे जानते हैं कि आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा को हँस-हँस कर जीवन विताने से प्राप्त नही कर सकती वह तो विरह मे रोने से ही प्राप्त होगा। यदि किसी का बिछुड़ा हुआ प्रियतम हँसी-खुशी रहने से ही मिल जाए तो किसी को दु:खी होने की क्या आवश्यकता है।

हँसि-हँसि कंत न पाइये जिनि पाया तिन रोय।
हँसि खेले हरि मिलैं कौन दुहागिनि होय ॥

कबीर के पति राम हैं और उनकी आत्मा राम की बहुरिया है।

राम मोरे पिउ हौं राम की बहुरिया।

यदि मन में विश्वास और प्रेम न हो और इस शरीर मे प्रियतम को पाने का ढंग न हो तो उस प्रियतम के प्रेम में कैसे लीन रहा जा सकता है। अतः यदि प्रियतम को प्राप्त करना है तो उसके प्रेम और विरह मे लीन होना चाहिए।

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव-सूँ, कैसी रहसी रंग ॥

कबीरदास के मन में प्रियतम को प्राप्त करने की अभिलाषा बलवती हो उठती है और वे रात-रात भर जागकर विछुड़े हुए क्रौंच पक्षी की भाँति रोते रहते हैं क्योंकि सारा ससार तो सुखिया है जो खाता और सोता है, दुखिया तो केवल दास कबीर है जो जागता और रोता है।

1. रात्यूँ रूंनी बिरहनी, ज्यूँ बंची कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या विरहा पुंज ॥

2. सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥

पावस ऋतु में बादल तो गरजकर और बरस कर सभी ताल-तलैयों को भर देते हैं परन्तु जिनसे गोविन्द विछुड़ गये हैं उनके हृदय की तपन कभी नही मिटती। राम के विरह मे तड़पते हुए प्रेमियों को दिन रात चैन नही पड़ता। यद्यपि रात्रि की बिछुड़ी हुई चकवी तो दिन मे मिल भी सकती है परन्तु जो जन राम से बिछुड़ गए हैं वे न दिन में मिलते हैं न रात्रि में।

1. अम्बर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोविंद बीछुटे, तनिके कौण हवाल ॥

2. चकवी बिछुरी रैंणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं ते दिन मिले न राति ॥

3. बासुरि सुख नाँ रैंणि सुख, ना सुख सुपिनैं माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं नाँ सुख धूप न छाँह ॥

विरह को प्रेम की कसौटी माना जाता है और मिलन या मुक्ति आत्म-प्रेम का

सुन्दर और मीठा फल है। कबीरदास ने अपने प्रेम निरूपण में प्रेम के आलम्बन, प्रेम मार्ग की कठिनाइयों, आत्यन्तिक विरह और तदुपरान्त मिलन भावना का निरूपण किया है। विरह मे तड़पते हुए कबीर को हरि मिल जाते हैं और वे उसे घर बैठे ही दर्शन देते हैं, क्योंकि कबीरदास यह भली प्रकार जानते है कि भगवान् तो घट-घट के वासी हैं, उनका निवास हमारा हृदय ही है परन्तु माया के आवरण के कारण दुनिया उसे देख नही पाती।

1. बहुत दिन के बिछुड़े हरि पाए।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास की प्रेम भावना अत्यन्त व्यापक अटपटी, रहस्यमयी और मनोहारिणी है। कबीर की इस प्रेम भावना के अन्तर्गत ज्ञान-ध्यान, योग-वैराग्य, त्याग-तप, सहिष्णुता, दयालुता, परोपकार, समाज सेवा, भक्ति, साधना और उपासना, सदाचार और मुक्ति सभी कुछ आ जाते हैं यों यो कहे कि कबीर की प्रेम साधना मे उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व दर्शन और जीवन दर्शन जाज्वल्यमान ही एक ज्योति की तरह प्रकाशित दिखाई देते है। इसीलिए कबीरदास को एक समर्थ निर्गुण भक्त कहना असंगत न होगा। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीरदास की प्रेम भक्ति को उनकी वाणियों की केन्द्रिय वस्तु माना है। उनका स्पष्ट मत है—

"कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे है।"

विद्वानों का प्राय: यह मत है कि कबीर की प्रेम-भावना पर सूफियो के प्रेम निरूपण का प्रभाव था। परन्तु यह कथन आंशिक रूप मे ही सत्य माना जा सकता है, क्योंकि कबीर की प्रेम भावना सूफियो की लौकिक से अलौकिक की ओर ले जाने वाली प्रेम भावना के अनुकूल नही है। कबीर का प्रेम तो नितान्त रूप मे अलौकिक और एकनिष्ठ आत्म-प्रेम है जिसका सीधा आलम्बन, निर्गुण राम है। आश्रय कबीर की आत्मा है जिसे उन्होने त्याग, तप, ज्ञान, वैराग्य आदि के द्वारा मन और बुद्धि के रजस्, तमस् मूलक कुत्सित प्रभावों से मुक्त करके शुद्ध स्फटिक की भांति स्वत्व रूप बना लिया है। कबीर के प्रेम मे मोहादि विकारों का लेश भी नही है। वे हृदय के सभी कुत्सित भावो को पूर्णतया तिलांजलि दे चुके हैं। अत: उनके प्रेम सरोवर मे आत्मा रूपी हंस आनन्द से किलोलें करता है और उनकी आत्मा निर्गुण भक्ति का आश्रय लेकर तथा ज्ञान और सदाचार का अंचल पकड़कर योग साधना के द्वारा ब्रह्माण्ड मे जाकर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाती है अत: कबीरदास का प्रेम पूर्णतया अलौकिक और विशद है।

1. "करत कल्लोल दरियाव के बीच में,
ब्रह्म की छौल में हंस झूलें।
अर्ध औ ऊर्ध्व की पैंग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलें ॥
गगन गरजै जहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।

वेद-कत्तेब की गम्भ नाही तहाँ,
कहैं कबीर कोई रमै सूरा ।।
गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना,
उदय और अस्त का नाव नाही ।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकास के सिन्धु माही ।।
सदा आनन्द दुख-दर्द व्यापै नही,
पूरनानन्द भरपूर देखा ।
मर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नही,
कहैं कब्बीर रस एक पेखा ।।"

2. "मानसरोवर सुभर जह हंसा केलि कराहिं ।
मुक्ताहल मुकता चुगैं, अब उडि अनत न जाहिं ।।"

अंत मे ये कहना असंगत न होगा कि कबीरदास की प्रेम भावना सत्यनिष्ठा, आत्म-तत्व के विस्तार, सदाशयता और समरसता आदि महान् मानवीय तत्वों पर आधारित है जिसमें योग, ज्ञान, वैराग्य और तप की कठोर परतो के नीचे से प्रेम का सरस, स्वाभाविक, निर्मल, पवित्र, शीतल और स्वच्छन्द मुक्ति का अमर स्रोत कल-कल करके प्रवाहित होता दिखाई देता है जिसमे स्नात् होकर कबीर का तन-मन और बुद्धि पवित्र आत्म-रूप को प्राप्त करके परमात्म प्रेम-रस मे निमग्न हो जाती है ।

कबीर की नारी भावना

कबीर संत थे, ज्ञानी थे, योगी, तपस्वी, त्यागी और वैरागी थे। वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, तथा अहंकार से अपने मन को मुक्त करके निर्गुण साधना में एकाग्र कर चुके थे। वे साधु थे, महात्मा थे, एकदम फक्कड़ और मस्तराम। उन्हे आत्मा की अनुभूति हो चुकी थी। अतः समग्रतः कबीर एक जीवन मुक्त, वीतराग, महान् और धर्मात्मा पुरुष थे। ऐसे व्यक्ति की नारी के प्रति क्या भावना हो सकती है, यह तो उनके व्यक्तित्व से ही साफ-साफ दिखाई दे जाता है। कबीर के व्यक्तित्व में हमें वे सभी उदात्ततम मानवीय आदर्श समवेत रूप मे उपलब्ध होते है, जिनकी अपेक्षा 'गीता' मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्तो से की है। वे आदर्श हैं—

अनपेक्षता, शुचिता, दक्षता, उदासीनता, व्यथाहीनता, शत्रु-मित्र में समान भाव, मान-अपमान में समान, शीत-उष्ण में समान भाव, सुख-दु.ख में समान, निन्दा-स्तुति में समान, अनर्गल वार्तालाप से दूर, सन्तुष्ट, अनिकेत, स्थिरमति, योगी, दृढ निश्चयी, आत्म-दर्शी, अद्वेष्टा, मैत्री-करुणा और क्षमा की प्रतिमूर्ति, हर्ष-अमर्ष-भय तथा उद्वेग से मुक्ति आदि।

इस विवरण मे हम अनुमान लगा सकते हैं कि कबीरदास के व्यक्तित्व में नारी-साधना के लिए तिलभर भी स्थान नही था। उनके लिए नारी का सम्पर्क इतना ही क्लिष्ट था जितना पानी को मथकर घी निकालना या बालू से तेल निकालना। कबीरदास ने अपनी उक्तियो मे इस रहस्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है, जिससे योग-साधना मे नारी भूमिका का परिचय साधकों को मिल सके और वे अपने हृदय मे ज्ञान का दीपक जलाकर रखते हुए वासना के गहन गर्त में न पड़े।

इसी तथ्य को उद्‌भूत करने के लिए कबीरदास की नारी विषयक धारणा का निरूपण करना यहाँ उपयुक्त लगता है।

कामिनी नारी—

1. कांमणि काली नागणी तीन्यूं लोक मँझारि।
   राम सनेही ऊबरे विषई खाये झारि॥
2. कामणि मीनी खाणि की जे छेड़ौं तौ खाइ।
   जे हरि चरणा राचिया तिनके निकट न जाइ॥

इन उदाहरणों मे कबीरदास ने कामिनी नारी के क्रूर और दुष्ट स्वभाव का वर्णन किया है। कामिनी नारी वह होती है, जो कामविमुग्धा होकर पर पुरुष को अपने जाल में फसाने का प्रयास करती है। 'काम रहित नाही कामिनी' इस कथन से भी इसी धारणा की ही पुष्टि होती है। शूर्पनखा जैसी मुग्धा कामिनियो की कथाएँ हमारे इतिहास और समाज मे प्रचलित है। कामिनी परपुरुषत्व चाहती है। वह काम मुग्ध हो, स्वपति की परवाह न करके परपुरुष को आकर्षित करने का भरपूर प्रयत्न करती है। ऐसी नारी अवश्य ही नागिन और मधुमक्खी के समान घातक होती है। इसीलिए कबीरदास नागिन

और मधुमक्खी रूपी नारी से सदा दूर ही रहते हैं। यही नहीं उसके प्रति उदासीनता का भाव भी रखते हैं, और उसे कभी छेड़ते नहीं हैं क्योंकि स्त्री की बेवफाई संसार में प्रसिद्ध है। ऐसी नारी छेड़ने पर किसी को नहीं छोड़ती। अनेक ऐतिहासिक कथाएँ इसका प्रमाण हैं।

परनारी—कबीरदास ने कामिनी के साथ ही साथ परनारी-वृत्ति का भी निषेध किया है। परनारी कामिनी की भांति स्वयंसाधिका नहीं होती। यहाँ स्थिति विपरीत होती है। परनारी पर परपुरुष मुग्ध होता है। ऐसे परस्त्री मुग्ध पुरुषों की हीन वृत्ति, परसुन्दरी के अमोघ आकर्षण, परकीया वृत्ति के अवगुण तथा परनारी प्रेम को दूषित प्रवृत्ति आदि का परिचय देकर परकीया-वृत्ति पर कबीरदास ने इस प्रकार आक्षेप किया है—

1. परनारी राता फिरै चोरी बिढ़ता खाहि।
   दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जाहि।।
2. परनारी परसुन्दरी बिरला बंचै कोइ।
   खाती मीठी खांड सी अंत काल विष होइ।।
3. परनारी के राचणें ओगुन है गुन नांहि।
   खार समद में मंछला केता बहि-बहि जांहि।।[1]
4. परनारी को राचणों जिसी लहसण की खानि।
   खूणै बैसि रखाइए परगट होइ दिवानि।।[2]

कबीरदास ही नहीं सभी मनीषी परनारी को पुरुष के विनाश का कारण मानते हैं। परस्त्री पर दृष्टि रखने पर सामान्य पुरुष तो क्या विश्व विश्रुत दुर्द्धर्ष योद्धा, मानव-दानव और देव भी नहीं बचे। इन्द्र, चन्द्र, दुर्योधन, कीचक आदि कितने ही महाबली परस्त्री प्रेम के कारण नष्ट हुए। भारतीय संस्कृति में साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस तथ्य से अवगत है कि परस्त्री वृत्ति में पड़कर रावण से योद्धा भी नहीं बच सके और काल कवलित हो गए—

"परनारी पैनी छुरी मति कोई लागो अंग।
रावन से जोधा गये पर नारी के संग।।"

परस्त्री का स्वभाव और व्यवहार भी बड़ा ही विचित्र होता है। उसके इस विचित्र स्वभाव का परिचय देते हुए उससे बचकर रहने का संकेत इन पंक्तियों में दिया गया है—

"जैसोई रंग कसूम को चादरि वैसोई रंग पराई तिरिया को।
छिनही में हँसि बोलि उठै और छिनही में करि जाय सूम तड़ाको।।
धोबी की नांद की साखि कहा जामें मैल कटै सब के कपड़ा को।
ओसन प्यास बुझति नायँ मोहन नीर भलो घर ही के घड़ा को।।"

इस कथन में परस्त्री को धोबी की नांद के समान बताया गया है, जिसमें सभी

1.2. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 31

भले-बुरे लोगों के कपड़े धुलते हैं, और उनका मैल एकत्र हो जाता है। परस्त्री के स्वभाव का ऐसा सटीक चित्रण अन्यत्र मिलना कठिन है।

नारी-प्रेम—कबीरदास योगी थे, संयमी और विरक्त थे। अतः उनकी दृष्टि में एक योगी के लिए नारी-प्रेम महापाप था। इसीलिए उन्होंने नारी-प्रेम पर व्यंग्य करते हुए कहा है—

1. नारी सेती नेह, बुधि, विवेक सबहि हरै।
   कोइ गमावै देह कारिज कोई ना सरै।।

2. नाना भोजन स्वाद सुख नारी सेती रंग।
   बेगि छाँड़ि पछिताइगा ह्वै है मूरति भंग।।

3. नारि नसावै तीनि सुख जा नर पासैं होइ।
   भगति मुकति निज ज्ञान मैं पैसि न सकई कोइ।।

इस प्रकार कबीरदास ने नारी-प्रेम को पुरुष के लिए अत्यन्त घातक बताया है। नारी के प्रेम-पाश में आबद्ध होने से भक्ति, मुक्ति और ज्ञान, ये तीनों ही अमूल्य रत्न नष्ट हो जाते हैं। अतः भक्ति, मुक्ति और ज्ञान की इच्छा करने वालों को नारी का अचल पूर्णतया त्याग देना चाहिए। कबीरदास की इस उक्ति में पूर्ण तथ्य और सत्य विद्यमान है क्योंकि एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती। और जिस प्रकार हँसना और कपोल फुलाना एक साथ नहीं हो सकता, उसी प्रकार नारी-संग और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भी एक साथ नहीं हो सकते। इसीलिए भर्तृहरि, गोपीचन्द, बुद्धदेव, चैतन्य, तुलसी आदि ने पहले नारी-संग का त्याग किया, तत्पश्चात् ज्ञान तथा भक्ति की साधना की और मुक्ति प्राप्त की। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने नारियों के साथ रह कर तप-त्याग और मुक्ति, साधना सफलतापूर्वक की थी और उन्हें नारी के साथ रहते हुए भी किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था। यहाँ हम यही कह सकते हैं कि ऋषियों का जीवन अलग था। वह सतियों और शूरमाओं का साथ था। वहाँ नर और नारी दोनों ही साधक थे। परन्तु ऐसी साधना सर्वाधिक कठिन होती है, क्योंकि काजल की कोठरी में घुसकर बेदाग निकलना सरल काम नहीं है। फिर कबीरदास तो सिद्धों की तीन मकार वाली साधना को देख चुके थे, जहाँ कुछेक को छोड़कर शेष सिद्ध कहलाने वाले लोग व्यभिचारी ही सिद्ध हुए। इसीलिए नाथ पंथियों ने नारी का कहीं नाम भी नहीं लिया है। यही प्रवृत्ति कबीर में भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि कबीर ने नारी-प्रेम को त्याग कर पूर्ण वैराग्य धारण करने की वकालत की है।

कनक और कामिनी—कनक और कामिनी दोनों ही योग-मार्ग की बाधाएँ हैं। ये अग्नि की विकट झर की तरह हैं; जिन्हें देखने से ही शरीर जलने लगता है और यदि इनका स्पर्श किया जाय तो सर्वनाश ही हो जाता है—

"एक कनक अरु कांमनी दोऊ अगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल।।"

नारी के आचरण पर आक्षेप करते हुए कबीरदास कहते हैं कि दुराचारिणी नारी

संसार की जूठन की तरह है। उसी के त्यागन और ग्रहण से भले बुरे का अन्तर जाना जा सकता है। जो उत्तम व्यक्ति होते हैं वे तो ऐसी नारी से दूर ही रहते है और जो नीच प्रकृति वाले होते हैं वे उसके निकट रहते हैं।

जोरू जूठणि जगत की भले बुरे का बीच।
उत्यम ते अलगे रहैं निकट रहै ते नीच॥

नारी और नर्क—कबीरदास नारी को नर्क का कुण्ड बताते हैं, जिससे कोई बिरला ही बच सकता है—

"नारी कुण्ड नरक का बिरला थम्भं बाग।
कोई साधु जन ऊबरें सब जग मूवा लाग॥"

कबीरदास के अतिरिक्त संस्कृत से लेकर हिन्दी में अनेक उक्तियाँ प्रचलित है जो नारी को नर्क का द्वार होने की पुष्टि करती है—

"द्वारमेनेकं नरकस्य नारी"
"पाप केर घर तिरिया जाती"

इन सभी उक्तियों का रहस्य क्या है? प्रश्न उठता है—कि क्या नारी वास्तव में ही नर्क और पाप का घर है? इसका उत्तर बड़ा सहज है कि नारी पुरुष में काम नामक विकार को उद्दीप्त करती है। जबकि साधना तथा योग में—'चित्त-वृत्ति के निरोध' को अनिवार्य माना गया है और चित्त-वृत्ति का यह निरोध बिना वैराग्य के नहीं हो सकता। अतः जो व्यक्ति नारी का त्याग नहीं करता, वह काम पर नियंत्रण नहीं रख सकता। साथ ही जहाँ काम होता है, वहीं मोह-लोभ-क्रोध और अहंकार भी मन में प्रवेश पा जाते हैं और इन पंच महाविकारों के रहते हुए मन कभी भी ज्ञान साधना में नहीं लग सकता, क्योंकि मन बड़ा चंचल होता है उसे वश में करना अति कठिन है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कामिनी नारी की कामुकता, परनारी वृत्ति तथा नारी-प्रेम आदि का कड़ा विरोध किया है और हर साधक को नारी से दूर रहने का उपदेश दिया है, क्योंकि आग और ईंधन में जो स्वाभाविक विरोध होता है, ठीक वही विरोध नारी प्रेम और योग साधना में है।

इस विवेचन को देखकर तो लगता है कि कबीरदस कट्टर नारी विरोधी थे। उनके मन में नारी के लिए तनिक भी सम्मान नहीं था। उनकी कल्पना तो मानो नारी रहित संसार की कल्पना ही थी। यदि कबीर की यही धारणा थी, तो वे वास्तव में ही नारी मात्र के बहुत बड़े शत्रु थे, परन्तु ऐसा नहीं था। कबीर नारी विरोधी नहीं थे, वे नारी को सिद्ध-मार्ग की बाधा मानकर उससे दूर रहने का ही उपदेश देते हैं। क्योंकि योग-मार्ग में नारी को स्थान नहीं दिया गया है अतः योग-साधना एकांगी है। साथ ही योग-मार्ग इतना कठिन है कि कोमलांगी नारी उस मार्ग का अनुसरण भी नहीं कर सकती। इसी-लिए योग-साधना का उपदेश देने पर सूर की गोपियाँ नारी की योग-साधना को लेकर उद्धव को किस प्रकार लज्जित और प्रताड़ित करती हैं वह देखने योग्य है—

1. चन्चल हिमन्न :

"ऊधो जुवतिन ओर निहारौ ।
ता पाछे तुम आय आपनो जोग कथा विस्तारौ ॥"

और इतने पर भी जब उद्धव नहीं समझें, तो गोपियों ने अपने ज्ञान और योग साधना का जो तीव्र वाक्‌बाण छोड़ा, उससे तो ज्ञानी उद्धव के ज्ञान का बलूत सीधा पृथ्वी पर ही दृष्टिगोचर हुआ—

"तुम्हरी बात सुने ब्रज को है ।
हम अबला अमीर सठ मधुकर हमहिं जोग कैसे सोहै ॥"

अतः जब नारियों को योग बताने वाला शठ हो सकता है, तो नारी को साथ रख कर योग साधना करने वाला क्या कुछ और कहलाएगा। हमारी दृष्टि में तो वह महाशठ होगा। इसी स्थिति को समझकर कबीरदास ने एक सच्चे योगी की नारी भावना को व्यक्त किया है, जो पूर्णतया उचित है।

नारी और माया—कबीरदास ने एक विशुद्ध आत्म-तत्त्व को छोड़कर शेष समस्त भूतवाद को माया का जंजाल माना है। नारी भी उनकी दृष्टि में माया है। वह महा ठगिनी है। वह त्रिगुण (सत्, रज्, तम्) का फंदा लेकर घूमती है। उसकी वाणी बड़ी मधुर है, वह बड़ी प्रभावशालिनी है। वह केशव के यहाँ कमला, शिव के घर में भवानी, योगी के यहाँ योगिनी, राजा के यहाँ रानी, भक्तों के घर भक्तिन और ब्रह्मा के घर में ब्रह्मानी बन कर बैठी है। द्रष्टव्य—

माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥
केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी ।
जोगी के जोगिनि होइ बैठी, राजा के घर रानी ।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी ॥"

यहाँ 'कबीर' की स्पष्ट धारणा है कि नारी माया है, मोह है, काम है, क्रोध है, लोभ है और अहंकार है। जिस किसी ने भी नारी को अपनाया है, वही सकाम है। वही मायावी है और उसी का निरंजन बन्धन युक्त है। जब तक यह निरंजन आत्मा नारी (कामिनी) का साथ नहीं छोड़ती, तब तक वह निजत्व को प्राप्त नहीं कर सकती और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती। 'कबीर' के इस दावे से यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

"नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते राम के जे सुमिरैं निहकाम ॥"

इस समस्त विवेचन से एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि नारी, पुरुष के बन्धन का और पुरुष नारी के बन्धन का मूल आधार है। यदि पुरुष नारी को और नारी पुरुष को त्याग दे तो दोनों ही संसार-सागर से मुक्त हो सकते हैं। कबीरदास की यह घोषणा पूर्णरूपेण व्यावहारिक है क्योंकि गृहस्थ में फँसकर मोह का जाल, प्राणी को जकड़ता ही ... जाता है। वह अपने को भूल जाता है और उस संतति तथा सम्पत्ति के लिए उत्सर्ग

हो जाता है, जो न तो उसकी है, और न कभी होगी। महात्मा तुलसीदास ने भी नारी को अत्यन्त दारुण और दुःखद माया के रूप में माना है क्योंकि संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसे मृगनयनी के नयन शरों ने आहत न किया हो—

"काम क्रोध लोभादिमद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥[1]
"श्रीमद बक्र न कीन्हि केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लागि न जाहि॥"[2]

यहाँ कबीर और तुलसी का नारी जाति से विरोध नहीं है, बल्कि उसके सहवास से मन पर पड़ने वाले उस विपरीत प्रभाव से विरोध है, जिसके कारण जीवात्मा कामादि विकारों के काले पर्दे के नीचे छिप जाती है और उस काले आँचल से मुक्त होकर बाहर नहीं निकल पाती।

इसीलिए 'कबीर' ही नहीं, कितने ही योगी और साधक नारी का अचल छोड़कर नारी-लोक से दूर वन में तथा कन्दराओं में जाकर छिप गये थे। भर्तृहरि, गोपीचन्द, बुद्धदेव, चैतन्य महाप्रभु, तुलसीदास आदि कितने ही योगियों, साधकों और सन्तों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं, जिन्होंने अपनी विवाहिता पत्नियों को "सिद्ध मार्ग की बाधा" समझकर त्याग दिया था। अनेक सिद्ध पुरुषों ने तो नारी-संसर्ग के दूषित परिणाम को समझकर विवाह ही नहीं किया था—इनमें सनकादि तथा नारद आदि के वृत्त सर्वविदित हैं।

लोई और कबीर—कबीरदास के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कबीर का विवाह हुआ था। उनकी भी एक पत्नी थी। उससे एक पुत्र भी हुआ था। बाबू श्याम सुन्दर दास इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर के साथ प्रायः लोई का भी नाम लिया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह कबीर की शिष्या थी और आजन्म उनके साथ रही। अन्य इसे उनकी परिणीता स्त्री बताते हैं और कहते हैं कि इसके गर्भ से कबीर को कमाल नाम का पुत्र तथा कमाली नाम की पुत्री हुई।··· यह अधिक संगत जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर से विरक्त होकर नवीन पन्थ चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गई। कहते हैं कि लोई एक बनखंडी बैरागी की परिपालिता कन्या थी। यह लोई उस बैरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी और टोकरी में रखी हुई गंगाजी में बहती हुई मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पड़ा। बनखंडी बैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उनकी कुटिया में गए। वहाँ अन्य सन्तों के साथ उनको भी दूध पीने को दिया गया, औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का दूध रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा कि गंगापार से एक साधु आ रहे हैं, उन्हीं के लिए रख छोड़ा है। थोड़ी देर में सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधु कबीर की सिद्धई पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई उनके साथ हो ली।"[3]

---

1. 'मानस'—अरण्य काण्ड—दो० सं० 42
2. वही—उत्तर काण्ड—दो० सं० 79 (ख)
3. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 21

'श्याम सुन्दर दास' जी के इस कथन से तो यही सिद्ध होता है कि 'लोई' नाम की कोई स्त्री थी और वह कबीर की पत्नी थी, तथा उससे कबीर को संतति भी प्राप्त हुई थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कबीर, सन्त, त्यागी और वैरागी न होकर एक पक्का गृहस्थ था। वह योगी नही, भोगी था। कबीर की वाणी मे भी कुछ लोई तथा उसकी संतति सम्बन्धी प्रयोग मिलते है यथा—

1. मरम करम दोऊ बरतैं लोई। इनका चरित्र न जानें कोई।
2. कहत कबीर सुनहु रे लोई। हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई।
3. कहत कबीर सुनहु रे लोई।
   हरि बिनु राखन हार न कोई।।
4. नारी तो हम हूं करी जाना नही विचार।
   जब जाना तब परिहरी नारी बड़ा विकार।।
5. बूडा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।
   हरि का सुमिरन छांडि के घर ले आया माल।।"

ये सभी उक्तियाँ कबीर की बताई जाती है, इनमें उक्ति संख्या चार और पाँच तो हमें प्रक्षिप्त लगती है जिन्हे किसी कबीर के विरोधी ने जोड़ दिया है। हमारा स्पष्ट मत यह है कि कबीरदास का न तो विवाह ही हुआ था, न उनकी कोई 'लोई' नाम की पत्नी थी और न कोई 'कमाल' नाम का पुत्र। यह सब क्षेपक है और विश्वसनीय नही है। यदि प्रथम, द्वितीय और तृतीय पद कबीर के मान भी लिए जायें तो इसमें प्रयुक्त 'लोई' शब्द का अर्थ 'लोई' नाम की स्त्री नही है। इसका अर्थ है—"लोगो।" क्योकि इस लोई शब्द के साथ 'रे' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जो पुरुषवाची है। स्त्रीवाची नही। स्त्रीवाची शब्द 'री' है और 'कबीर' ने भी स्त्री मूलक शब्दों के साथ 'री' का ही प्रयोग किया है—

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।"

इसके अतिरिक्त कबीरदास ने पुरुष के लिए 'रे' का ही प्रयोग किया है—

"चलि-चलि रे भँवरा कमल पास।
तेरी भँवरी बोलै अति उदास।।"

कबीर के अतिरिक्त अन्य सभी कवियो ने भी 'रे' शब्द का प्रयोग पुरुषो के सम्बोधन में किया है—

"मन रे परसि हरि के चरन।" (सूरदास)
"रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सम्हार।" (तुलसी)
रे रे दुष्ट ठाड़ किन होई। निरभय चलेसिन जानहि मोही।।" (तुलसी)
"किलक अरे! मैं नेक निहारूँ।" (जयशंकर प्रसाद)

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्रीवाची प्रयोगो मे 'री' का ही प्रयोग किया है।

"अरी सुरभि! जा लौट जा अपने अंग सहेज।"

इन उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास का प्रयोग "रे लोई" का अर्थ,

'अरे लोगों' ही होगा। यदि वे किसी लोई नाम की स्त्री के लिए यह प्रयोग करते तो उनका कथन यों होना चाहिए था—

"कहत कबीर सुनहु री लोई।"

और तब माना जा सकता था कि यह सम्बोधन 'लोगों' के लिए न होकर किसी लोई नाम की महिला के लिए हुआ है, यदि यह सम्बोधन किसी नारी के लिए होता तो 'अरी लोई' ही होता। इसके 'अरे लोई' होने का प्रश्न ही नही उठता था। अतः स्पष्ट है कि 'लोई' शब्द का प्रयोग जहां कही भी हुआ है। केवल 'लोगो' के अर्थ मे ही हुआ है। कही भी इससे इतर अर्थ मे इसका प्रयोग नही मिलता।

'लोई' शब्द का प्रयोग हिन्दी कविता मे कबीरदास के अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा भी किया गया है।

'गोरखबानी' में भी 'लोई' शब्द का प्रयोग मिलता है। जिसे 'लोगों' के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। जैसे—

"बदंत गोरखनाथ सुणौ नर लोई।
काया गढ जीतेगा बिरला कोई।।"[1]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार किया है—
"गोरखनाथ कहते हैं कि हे नर लोगो, काया गढ़ को कोई विरला ही जीत सकता है।"[2]

'राष्ट्रभाषा कोश' मे 'लोई' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—लोई (सं० पु०) लोग।

उदाहरण—बल बसुदेव कुशल सब लोई। (सूर)[3]

इन उदाहरणों के पश्चात् तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि कबीर का 'लोई' शब्द 'लोगो' के सम्बोधनार्थ ही है—किसी लोई नाम की महिला के सम्बोधनार्थ नही।

'लोई' पूर्वी भाषा का शब्द है, जो बनारस के आस-पास बोला जाता है। पूर्वी भाषा मे 'ई' लगाकर बोलने का एक आम रिवाज है—जैसे मनुष्य को मनई, यह को 'ई' लड़की को लडिकिनी, बड़ी लडकी को बड़की, छोटी को छुटकी आदि लगाकर बोलते हैं। इसी प्रकार कहीं-कही लोगों के लिए (बहुवचन मे) 'लोई' शब्द का प्रयोग भी होता है। अतः कबीरदास के इस 'लोई' प्रयोग का अर्थ भी 'लोगों ही है। इसे 'कबीर' की किसी लोई नाम की पत्नी से जोड़ना सरासर गलत है और उस महान योगी 'कबीर' के साथ घोर अन्याय है। अतः हमको अर्थ का अनर्थ करके कबीरदास को नारी रूपी माया के अंचल से नही बांधना चाहिए।

'लोई' शब्द व्रज क्षेत्र मे भी प्रचलित है। यहां आटे के छोटे पिंड को जिससे रोटियाँ, पूड़ियाँ या कचौड़ियां बनाई जाती हैं—'लोई' कहते हैं। रोटी, पूड़ी या कचौड़ी

1. गोरखबानी, सं०—डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (द्वितीय सं० 2003 वि०), पृ० 116
2. वही।
3. राष्ट्रभाषा कोश, पृ० 965।

बेलने से पहले आटे के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते हैं, फिर उनको हथेलियों से मसलकर गोल किया जाता है। इसी को 'लोई' कहते हैं। यहाँ भी यह 'लोई' शब्द स्त्रीवाचक है। शादी-विवाह में कन्या के माँ-बाप 'हथलोई' (आटे की लोई) बनाकर वर को कन्या का दान करते हैं। इसके अतिरिक्त 'लोई' एक ऊनी चादर होती है जो मनुष्यों के ओढ़ने के काम आती है। आजकल खद्दर भण्डारो मे भी 'लोईयाँ' मिलती हैं। 'लाल इमली' की लोइयाँ भी बड़ी प्रसिद्ध हैं। परन्तु किसी स्त्री या लड़की का नाम 'लोई' हो, ऐसा सुनने में नही आता।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'लोई' शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में तो स्त्रीवाचक है परन्तु पूर्वी या अवधी में यह 'लोगों' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और कबीर का—

"कहत कबीर सुनहु रे लोई।
हरि बिन राखन हार न कोई॥"

का अर्थ होगा—

कबीरदास कहते हैं कि अरे लोगो सुनो, इस ससार मे हरि (भगवान्) बिना कोई रक्षा करने वाला नहीं है।

अतः हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते है कि कबीरदास ने किसी भी 'लोई' नाम की स्त्री से विवाह नही किया था—वह तो यती था। योगी था, संयमी और सदाचारी था। वह भली प्रकार जानता था कि एक योगी के लिए नारी विष-तुल्य है। अतः वह स्वयं तो नारी से दूर था ही, अन्य योगियो को भी नारी के सम्पर्क से दूर रहने की शिक्षा, प्रेरणा और उपदेश देने का स्तुत्य कार्य भी कबीरदास ने किया है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि कबीर को नारी-जाति से घृणा नही थी। उन्हे तो केवल नारी के उस अकाट्य और मोहक प्रभाव से अरुचि थी, जिससे ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नही बच सके है। इससे स्पष्ट है कि मुमुक्षि और साधना मे स्वाभाविक विरोध है। नर और नारी का साथ आग और ईंधन का साथ है। इसलिए इसके साथ रहकर 'चित्त-वृत्ति का निरोध' करना कठिन है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कबीरदास नारी को योग तथा पुरुष-मुक्ति के मार्ग मे बाधक और त्याज्य मानते हैं, जो सर्वथा उचित है। इस प्रकार का दृष्टिकोण तो कबीर का ही नही अन्य सभी योगियो का जैसे—मत्स्येन्द्र-नाथ, गोरखनाथ आदि नाथपन्थियों का भी रहा है और 'कबीर' पर इन नाथपन्थियों की साधना-वृत्ति का पूर्ण प्रभाव पडा था। यही कारण है कि कबीरदास ने अपनी नारी-विषयक धारणा को व्यक्त करते समय एक योगी के आदर्श और धर्म को सदा सामने रखा था। अतः यह कहना असंगत न होगा कि 'कबीर' को न तो नारी से ईर्ष्या थी और न विरोध। उनकी वाणी में नारी के प्रति न तो विद्रोह ही दिखाई देता है और न प्रतिक्रियावादी धारणा ही व्यक्त हुई लगती है। उनका कामिनी तथा परनारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया —'बहुजन हिताय' है जिसमे भारतीय सांस्कृतिक आदर्श, मर्यादा और समाज-सुख की ॥ कूट-कूट कर भरी हुई है।

सती और कबीर— कबीरदास भी अन्य सन्तों और योगियों की भांति 'सती' नारी का सर्वथा सम्मान करते हैं—

1. सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मीत मसांन।
लोग बटाऊ चलि गये हम तुम रहे निदान ॥

2. सती बिचारी सत किया काठौं सेज बिछाय।
ले सूती पिव आपणां चहूँ दिसि अगनि लगाय ॥

3. सती सूरा तन साहि करि तन मन कीया घांण।
दिया महोला पीव कूं तब मड़हट करै बखाण ॥

4. सती जलन कूं नीकली पीव का सुमरि सनेह।।
सबद सुनत जीव नीकल्या भूलि गई सब देह ॥

5. सती जलन कूं नीकली चित धरि एकबमेख।
तन मन सौंप्या पीव कूं तब अतरि रही न रेख ॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीरदास भी उस सती-साध्वी को महान् और सम्मान योग्य मानते हैं जो प्रेम, धर्म और आदर्श पर अपना तन और मन न्योछावर कर देती है, जो प्रियतम के बिना एक क्षण भी अपने पार्थिव अस्तित्व को रखना हेय समझती है। जो अपने मृतक पति के साथ सहर्ष जीवित जल जाती है। ऐसी पतिव्रता धर्म परायण-सती का रूप और तेज अनूप होता है। वह किसी भी योगी से कम नहीं होती। 'कबीर' के लिए तो ज्ञान-व्रत और प्रेम-व्रत दोनों ही समान है। इनका जो भी पालन करता है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ऊँच हो या नीच, बड़ा हो या छोटा, राजा हो या रंक, छूत हो या अछूत, हिन्दू हो या मुसलमान सभी सम्माननीय हैं।

यह देश सती और शूरमाओं का देश है। इसमे पुरुष अपने शूर-धर्म का और नारी अपने सती-धर्म का पालन करते रहे है। पुरुष चाहे युद्ध मे वीरता दिखाये या साधना के मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ कष्टों को सहन करता रहे—दोनो ही शूर माने जाते है। यहाँ शारीरिक बल और आध्यात्मिक बल का सदा समन्वय रहा है। यहाँ सच्चा शूरमा उसी को माना जाता है, जिसके एक हाथ में शास्त्र और दूसरे मे शस्त्र हो। इस प्रकार शूरधर्म बड़ा कठिन है। वह भी सती की भाँति दहकते अंगारों पर ही चलने के समान है। हमारे देश मे शूर और सती दोनों ही महान् और वन्दनीय हैं। इसीलिए महात्मा कबीरदास ने सती-नारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

कबीर की नारी विषयक धारणा का परिचय प्राप्त करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर एक सच्चे और महान् योगी थे। उन्होने समाज मे प्रचलित नारी-रूपो को देखा, सुना और समझा। साथ ही नाथपन्थियों और सिद्धो की नारी विषयक धारणाओं और प्रक्रियाओ पर भी दृष्टिपात किया था। कबीरदास को इनमे से नाथपन्थियों की नारी विषयक धारणा ही उचित लगी और उन्होने उसी को अपनाया। सिद्धो की भोग-भावना में उन्हें स्पष्ट रूप से अनाचार दिखाई दिया और इसीलिए उन्होने उसकी ओर देखा भी नहीं।

कबीरदास को इस बात के कहने में भी कोई हिचक नही हुई कि कामिनी काली सर्पिणी के समान घातक है। वह मधुमक्खी के समान पीड़ा दायिनी है। वह विष तुल्य है और अग्नि की ज्वालारूपिणी है। उन्होंने पुरुषो की परकीया वृत्ति पर भी तीक्ष्ण प्रहार किया है और परकीयत्व से बचने की प्रेरणा दी है। कबीरदास एक योगी के लिए नारी-प्रेम को पूर्णतया त्याज्य मानते है क्योंकि वासना और साधना का साथ-साथ निर्वाह नही हो सकता। इसीलिए एक योगी और मुमुक्षु के लिए नारी नर्क का कुण्ड है और त्याज्य है। कबीर का विवाहित होना और 'लोई' का अर्थ उसकी पत्नी लगाना भी भ्रामक है, क्योंकि नारी के प्रति अटूट संयमशीलता का कथन करने वाला कबीर कभी ढोंगी नही हो सकता, जो विवाह भी करे, गृहस्थ भी बने, पुत्रोत्पत्ति भी करे और अपने को नारी विहीन योगी भी कहे। ऐसा कहना कबीर के महान् व्यक्तित्व को अनदेखा करना है और वास्तविकता पर पर्दा डालना है। अत: यह कहना असगत नही है कि कबीर की 'लोई' या अन्य कोई पत्नी नही थी। इस प्रकार के अंश या तो प्रक्षिप्त है, या उनका अर्थ गलत लगाया गया है। कबीरदास सती-साध्वी नारी को पूर्ण सम्मान देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर एक महान् योगी थे और एक सच्चे योगी की दृष्टि से ही उन्होने नारी का अंकन किया है। अत: कबीर की नारी भावना एक योगी की नारी भावना है।